प्रकाशक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
मालिक, दि० जैन पुस्तकालय
गांधीचौक, कापड़िया भवन-सूरत।

मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस,
खपाटिया चकला-सूरत।

भूमिका।

यह तत्वसार ग्रन्थ अध्यात्म रुचिधारी मानवोंके लिये परम कल्याणकारी ग्रन्थ है। इसके कर्ता श्री देवसेनाचार्य हैं, जिन्होंने दर्शनसार विक्रम संवत ९९० में रचा था। संभवतः यह वही हों। यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला नं० १३ तत्वानुशासनादि संग्रहमें पृष्ठ १४५ पर मुद्रित है, उसीको देखकर टीका लिखी है। इस ग्रन्थमें जीवनको सदा सुखी बनानेका उपाय है। धर्म आत्माका स्वभाव है। धर्मका लाभ आत्माके शुद्ध स्वभावका अनुभव है। साधकको पांच परमेष्ठियोंके द्वारा जप व मनन करते हुए उपयोगको अपने ही आत्माके स्वरूपमें जोड़ना चाहिये तब स्वानुभव प्रगट होगा। यही रत्नत्रयकी एकता है, यही मोक्षमार्ग है इसीसे परमानन्दका स्वाद आयेगा व आत्माका कर्ममल दूर होगा। जगतसे मोहरहित होकर व कर्मके सुखदाई व दुखदाई फलमें समभाव रखकर जो संतोषमय जीवन बिताता ह वही धर्मात्मा बुद्धिमान है। जो जगतके क्षणिक सुख दुःखमें रंजायमान व आकुलित नहीं होते हैं वे ही वीर भक्त जैनी हैं। जो आत्मानन्दके प्रेमी हैं उनको अपने आत्माका मूल स्वभाव भले प्रकार श्रद्धानमें रखना चाहिये, उसीको ध्याना चाहिये। तत्वसार एक अपने ही आत्माका निर्विकल्प या अद्वैत अनुभव है। इसीको धर्मध्यान व शुक्लध्यान कहते हैं यही ध्यानाग्नि है जो कर्म-मलको जलाकर आत्माको पवित्र करती है।

तत्वप्रेमी भाई व बहनोंको सुगमतासे इस ग्रन्थका भाव झलक जावे इसलिये यह टीका अपनी बुद्धिके अनुसार लिखी है। कहीं भूल हो तो मुझे अल्पबुद्धि जानकर क्षमा करें। मेरा प्रयास केवल शुद्धात्मासे मननका निमित्त मिलाना है। इस ग्रन्थको लिखते हुए मुझे जैसा धर्मरसका स्वाद आया है वैसा स्वाद इसको ध्यानसे पढ़नेवालेको भी आयगा ऐसा मुझे गाढ़ निश्चय है।

दाहोद,
१९ सितम्बर १९३७. } तत्वप्रेमी ब्र

निवेदन।

श्रीमान् ब्रह्मचारीजी सीतलप्रसादजी सारे दिगम्बर जैन समाजमें एक ऐसे अनन्य ब्रह्मचारीजी है जो अपना सारा समय धर्मध्यानमें विताकर साहित्य सेवा भी अथकरूपसे कर रहे हैं। आजतक आपने अनेक आध्यात्मिक और तात्विक ग्रंथोंकी रचना और टीका करके जैन समाजको उपकृत किया है, उसी प्रकार यह 'तत्वसार टीका' ग्रन्थ भी आपकी ही कृति है जो आपने गतवर्ष दाहोदके चातुर्मासमें रुग्ण अवस्थामें तैयार की थी। और इस ग्रन्थके पठनपाठनका सुलभ प्रचार हो, इसके लिये एक दातारको भी ढूँढ़ निकाले थे। अतः आपका उपकार हम, जैन-मित्र व जैन समाज जितना माने उतना कम है।

इस ग्रन्थको पंढरपुर निवासी सेठ शिवलाल मलुकचन्दजी गांधीने अपनी स्वर्गीय धर्मपत्नी श्री० सौ० चतुरबाईजीके स्मरणार्थ प्रकट करवाकर 'जैनमित्र' के ३९ वें वर्षके ग्राहकोंको भेटमें प्रदान करनेकी उदारता दर्शाई है, उसके लिये आप अनेकशः धन्यवादके पात्र हैं। ऐसे शास्त्रदानका अनुकरण करनेके लिये समाजके अन्य श्रीमानोंसे हमारा निवेदन है।

जो 'जैनमित्र' के ग्राहक नहीं हैं उनके लिये इस ग्रन्थकी कुछ प्रतियां विक्रयार्थ अलग भी निकाली गई हैं। आशा है कि जीवनको सुखी बनानेका उपाय बतानेवाले इस तात्विक ग्रंथका जैन समाजमें बाहुल्यतासे प्रचार होजायगा।

सूरत.
वीर सं० २४६४
भादों सुदी १२

निवेदक—
मूलचन्द किसनदास कापडिया, प्रकाशक.

विषय-सूची।

स्वर्गवासी सौ० चतुरबाई

धर्मपत्नी सेठ शिवलाल मलुकचन्द गांधी-पंढरपुर।

जन्म—	स्वर्गवास—
शालिवाहन शक १७९६	शक १८५९ सं० १९९३
विक्रम सं० १९३० आषाढ वदी १२	फाल्गुन वदी ४ बुधवार
रविवार ता० ९-८-१८७४.	ता० ३१-३-१९३७.

"जैनविजय" प्रेस सूरत।

स्वर्ग. सौ. चतुरबाई शिवलालचंद गांधी पंढरपूर—

संक्षिप्त जीवनचरित्र ।

---

(१) जगतमें धर्मात्मा पुरुषोंका जीवन आदरणीय और चिर-स्मरणीय होता है । कारण उस जीवनसे अन्य लोग अर्थात् स्वकुटुंब ही केवल नहीं अपितु धर्मबांधव और देशबांधव भी लाभ उठाते हैं। इसप्रकार महान् और शीलसम्पन्न व्यक्तियोंमें स्वर्गवासी सौ० चतुर-बाई शिवलालचंद गांधी पंढरपुरकर इनकी गणना होती है । उनका अल्प चरित्र यहांपर सादर कहता हूं ।

(२) अक्कलकोट संस्थानमें नागणसुरके श्रीमान् सेठ नानचंद हीराचंद शहाकी यह सुपुत्री थी। इनका जन्म ता० ९-८-१८७४ को हुवा था । वह एक समय था जिस समयमें कन्याओंको पाठ-शालामें नहीं भेजते थे । और स्त्रियोंको पढ़ाना गर्हणीय था। लेकिन् चतुरबाईकी तीक्ष्ण और कुशाग्र बुद्धि देखकर उनके पिताने अपने घरमें ही पढ़ाना शुरू किया । और भक्तामर, तत्वार्थसूत्र इत्यादि वह अच्छी तरहसे पठन करने लगी। माता पिताओंके धार्मिक संस्कारसे चतुरबाई प्रतिदिन शास्त्र स्वाध्याय करती थी। थोड़े दिनमें ही उनकी भगिनी पण्डिता ब्र० रत्नमाबाईके सहाबसे शास्त्र स्वाध्यायमें अच्छी तरहकी उनकी प्रगति हुई। इसी प्रकार गृहकार्य और सूप शास्त्रमें भी आप प्रवीण हुई।

पंढरपुरमें जिनधर्मपरायण और प्रसिद्ध नागरिक सेठ मलुकचंद गांधी थे। उनके सुपुत्र भाई शिवलालचंदके साथ चतुरबाईका विवाह हुआ। शिवलालचंद भी नित्यप्रति जिनदर्शन, स्वाध्याय करते थे और सदाचारसंपन्न थे।

(३) श्वसुरालमें चतुरबाईने गृह व्यवस्था अपने योग्य कुलाचारके माफक 'धार्मिक आचार' और सुगृहिणीके योग्य विनय सेवादि गुणोंमें दक्षता रखी थी। इसलिये थोड़े ही दिनमें पंढरपुरमें उनकी प्रसिद्धि हुई। प्रतिदिन मंदिरमें दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सब कुटुम्ब और शहरकी स्त्रियोंके साथ करती थीं। शहरमें बीमार स्त्रियोंकी योग्य प्रकारे सेवा कर गृहकार्यमें बचा हुवा समय अन्य लोकोपयोगी काममें और शास्त्र स्वाध्यायमें व्यतीत करती थीं। इससे उनका आदर सब जगह हुआ करता था।

भाद्रपद मासमें पर्यूषण पर्वमें व्रतपूजा विधि महाभक्तिसे करती थीं और स्त्री सभामें तत्वार्थादि सूत्रोंका अर्थ भी उत्तम प्रकारसे करती थीं। इससे सब महिलायें लाभ लेती थीं।

(४) श्रीमान् सेठ शिवलालचन्द भी इस पत्नीके कार्यमें अच्छीतरहसे सहायता देते थे। सब प्रकारकी धार्मिक क्रिया दोनों पति-पत्नी मिलकर एक साथ ही करते थे। जैन समाजमें दोनोंका आदर बहुत था। समाज सदैव उनके योग्य मार्गोपदेशमें तत्पर रहता था। उसी प्रकार शिवलालचन्दके छोटे बन्धु नानचंदभाई भी अपनी सुविद्य पत्नी रतनबाई सह उनकी आज्ञा और अनुकरण कर-

नेमें दक्ष रहते थे और अपनी उन्नति उनके साहचर्यसे हुई है, इस प्रकार समझते थे।

(५) चतुरबाई अतिथियोंका उनके योग्य आदरसत्कार करती थीं। उनके घरमें सदैव ब्रह्मचारी और त्यागियोंका आहार होता था। ई० स० १९२६ में श्री पूज्य १०८ आचार्य श्री शांतिसागर-जीका आगमन पंढरपुरमें हुआ, उसी समय उनको आहारदान देकर पुण्यका लाभ उठाया और श्रावकोंकी ५ वीं पतिमा धारणकर अन्त समयतक अपने व्रत परिपूर्ण पालन किये।

(६) शिवलालचंदने पत्नीकी इच्छासे सम्मेदशिखर, चंपापुरी, गोम्मट्टस्वामी आदिकी यात्रा की और अर्थप्रकाशिका ग्रंथोंका प्रकाशन किया। कुन्थलगिरि क्षेत्रपर जिनबिंबकी प्राणप्रतिष्ठा की और दुष्काळमें पीड़ित लोगोंको भोजन भी दिया था। और इसी प्रकार हर समय दान करते थे।

(७) श्री० सौ० चतुरबाईको कुल १५ पुत्र और पुत्रियां हुईं। लेकिन दुर्दैवसे आज अकेले माणिकचंद ही उनकी समाधानीके लिये आनंद दे रहे हैं। माणिकचंद विवाहित हैं। और उनकी नवपरिणित वधु भी उनकी आज्ञा पालन करनेमें दक्ष रहती है।

इसी प्रकार संसारकी यात्रा पूरीकर आपने ६३ में वर्षमें ता० ३१-३-१९३७ को अपनी जीवनयात्रा सल्लेखनापूर्वक पूर्ण की।

उनके वियोगसे कुटुम्ब और समाज दु:खित हुवा। अंतमें जिनेश्वर भगवान् उन भव्य और साध्वी आत्माको शांति देवे।

(८) स्व० सौ० परमभाग्यशाली चतुरबाईके स्मरणार्थ श्री० सेठ शिवलालचंदभाईने जैनमित्रके वाचकोंके स्वाध्यायार्थ यह ग्रन्थ समर्पण किया है। यह ग्रन्थ पुज्य जैनाचार्य देवसेनाचार्य कृत है। और इसका अनुवाद ब्र० पं० सीतलप्रसादजीने किया है। इसका सदुपयोग जैन समाज करे ऐसी हमारी हार्दिक भावना है। इत्यलम्।

ब्र० सुमतीबाई शहा।

कर्तव्य-पालन।

परमपूज्य माता और पिताका उपकार कर्तव्यपरायण
पुत्रोंपर आमरणान्त रहता है, उस उपकारका स्मरण
रखना सत्पुत्रका लक्षण है। उसी प्रकार परमपूज्य
मातुश्री स्व० चतुरबाईजीके स्मरणार्थ और हमारे
वंद्य पिताजी तीर्थरूप श्री० शिवलालचन्दकी
पुत्र-वात्सल्यता नेत्रके सामने रखकर उनकी
आज्ञानुसार यह जैनाचार्यका पवित्र ग्रन्थ
प्रसिद्ध कर जैनमित्रके ग्राहकोंको
स्वाध्यायार्थ समर्पण करता हूं।
सब जैनबन्धु हमारे पिताजीकी
सेवा ग्रहणकर मेरे ऊपर धर्मस्नेह
रखें, इस प्रकारकी मैं
प्रार्थना करता हूं।

आपका कृपाकांक्षी—

गांधी मानिकलाल शिवलाल-पंढरपूर।

सौ० चतुरबाईजीका प्रिय पद।

रेल बनी अद्भुत तैयार, इसमें बैठो सब नरनार ॥धृ०॥

× × ×

श्री जिन गुरु एंजिनियर जानो, शिव मारगका रूप वखानो।
आगममसे कछु नहि छानो, हुकुम किया प्रभुने सुखकार। इ०॥
लघु एंजिनियर, गणधर भाई, जिन आज्ञाको सब जन पाई।
इस प्रकारसे रेल बनाई, किया भव्यजनसे उपकार ॥इ०॥२॥
प्रथम दयाकी लीख लगाके, जप तप संयम पैंया लगाके।
शील तेल तिहँ मध्य जलाके, रेल धर्मकी जिसपर डार ॥इ०॥३॥
निःकांक्षादिक कल लगवाके, कर्म काष्ठ तिहँ मध्य जलाके।
समकित जाका नाम धराके, एंजिनका यौं किया प्रचार। इ०॥४
रेल बनी गई यौं जब सारी, पुण्य गार्डकी हुई हुशियारी।
चारित्र लाईन क्लिअर जारी. स्याद्वाद् सिग्नल तैयार ॥इ०॥५॥
ज्ञान स्टेशन मास्टर आया, ध्यान करनेका टिकट बनाया।
ग्यारा प्रतिमा लिया किराया, चेतन बैठो गुण आधार ॥इ०॥६
क्रोध मान माया ज्यों लुटेरे, पंथिनको तिने लूट सवेरे।
नरक मांहि इनके सब डेरे, चेतन इनसे हो हुशियार ॥इ०॥७॥
ब्रह्मचर्य संग आप सिपाई, तिहाँ मध्य सब बैठो भाई।
इनसे राखो सज्जनताई, वैरागचंद है पोल सुधार। इ०॥८॥
जिनालयका जंक्शन भारी, इसमें बैठो सब नरनारी।
णमोकार सीटी सिसकारी, भव स्टेशनसे होगये पार ॥इ०॥९॥
शिवपुरका स्टेशन आया, चेतन अपने घरको ध्याया।
छूट गई सब जगकी माया, चिमन-लाल ले पद सुखकार ॥इ०॥१०

शुद्धिपत्र ।

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	७	माधे	माटौ
६	३	सम्यचा	सम्मत्ता
,,	१६	प्रतिष्टा	प्रतिज्ञा
७	६	वह भी	वह कभी
१४	१८	या द्रव्य	का द्रव्य
१८	१९	बहि त्मः	बहिरात्मा
१९	१०	कर्म भोगने	कए भोगने
२२	१२	तर्क	तत्व
२७	१०	मित्	ईषत्
२८	८	विरोध	निरोध
२९	१२	मब	भाव
,,	१५	भेद	खेद
३७	१	शुद्द	शुद्ध
४२	३	सुज्जाइ	दज्जाइ
४४	१९	आत्मा	आता है
४५	१३	नीत्य	नित्य
४९	३	क्रम	जब
५८	१६	ध्यान करे	ध्यान न करे
६०	२	सुपरगय	सुगगय
६१	६	प्रेम	अंग
६४	१०	सासये	सासयं
६७	१२	झड़कता है	झड़काता है
६८	१५	राय दिया	रायादि या

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७१	१९	कलूष	कलुष
,,	१९	निल	नील
७२	१७	खण्ड	पिण्ड
७६	९	मोहादिसे	मोहादि ये
७७	१६	ढ्ढ	ढक
७८	१९	पहिभास:	प्रतिभास:
८१	५	वृद्धि	बुद्धि
,,	२२	पुद्गलके	आत्माके
८३	४	ज्ञानोपदेश	ज्ञानोपयोग
८९	१	द्रव्य लाभ	ब्रह्म लाभ
९१	१६	छहों द्रव्योंसे	छहों द्वारोंसे
९४	२	अस्तित्व	आस्तिक्य
९५	७	बन्ध	बन्ध बन्द
९८	१४	करनेवाले	करानेवाले
१००	१४	घा	हानि
११९	४	मिट	मिल
१२१	११	हो	हटे
१२७	१२	मिलता है	मिलाता है
१३०	१०	योगसे	भोगसे
१३१	१९	रागके कारण	राग
१३४	१९	तमो	णमो
१५१	५	भोगोंका	योगोंका
१५६	५	आत्त	आत्म
१६०	१४	आठ	आदि

॥ ॐ ॥

श्रीदेवसेनाचार्यकृत-

तत्वसार-टीका।

मङ्गलाचरण।

दोहा—श्री अरहंत महंतको सुमरूं मन वच काय।
तत्वज्ञान प्रगटाइयो, भवि जीवन सुखदाय ॥ १ ॥
परम शुद्ध परमातमा, सिद्ध स्वभाव विराज।
सुमरूं भाव लगायके, आतम-सिद्धिके काज ॥ २ ॥
श्री आचारज गुरु बड़े, धर्म चलावन हार।
वंदूं भाव सम्हारिके, होवे बुद्धि अपार ॥ ३ ॥
उपाध्याय ज्ञाता मुनी, तत्व पढ़ावन हार।
सुमरूं ध्यान लगायके, प्रगटे ज्ञान सु सार ॥ ४ ॥
रत्नत्रय पथगामि जो, साधत मोक्ष अनन्त।
स्वातम अनुभव रस रमी, वंदहु निर्भय संत ॥ ५ ॥
जिनवाणी श्रुतज्ञान मय, स्याद्वाद विस्तार।
परम तत्व प्रगटीकरण, वंदूं भवदधितार ॥ ६ ॥
देवसेन आचार्यको, सुमरूं भाव लगाय।
तत्वसार व्याख्यानमें, मम मति बहु उमगाय ॥ ७ ॥
अध्यातम रुचि धार जो, संत सुजन इहकाल।
तिन हित कुछ चर्चा करूं, पहरें निज गुण माल ॥ ८ ॥

गाथा।

झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलसुविसुद्धलद्धसब्भावे।
णमिऊण परमसिद्धे सु तच्चसारं पवोच्छामि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ-(झाणग्गिदड्ढकम्मे) आत्मध्यानकी अग्निसे सर्व ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंको जलानेवाले (णिम्मलसुविसुद्धलद्धसब्भावे) तथा अपने वीतराग परम शुद्ध स्वभावको प्राप्त करनेवाले (परमसिद्धे) सिद्ध परम त्माओंको (णमिऊण) नमस्कार करके (तच्चसारं) तत्वसार ग्रंथको (सु) भले प्रकार (पवोच्छामि) कहूंगा।

भावार्थ-श्री देवसेनाचार्य तत्वसार ग्रंथको प्रारम्भ करते हुए मंगलाचरण करते हैं। जो पुण्य पाप व परलोकको मानते हैं उनको आस्तिक कहते हैं। जैन धर्म आस्तिक मत है, अतएव जैन धर्मके श्रद्धावान हरएक शुभ कार्यके प्रारम्भमें अपने पूज्य देवको नमस्कार करते हुए मंगलाचरण करते हैं। पवित्र आत्माओंके गुणानुवाद करनेसे व नाम लेनेसे भावोंमें निर्मलता होजाती है। जिस विशुद्धताके प्रतापसे आगामी उदय आनेवाला पापकर्म क्षय होजाता है या निर्बल पड़ जाता है तथा शुभ भावोंसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है। अंतराय कर्म एक पापकर्म है, उसके उदयसे प्रारम्भ कार्यमें विघ्न पड़ सक्ता है। मंगलाचरण करनेसे अंतराय कर्म अति मंद पड़ जाता है, तब कार्यके भीतर होनेवाली बाधा दूर होजाती है। कभी अंतराय कर्म तीव्र निधत्ति व निकाचित बन्ध रूप होता है तब वह नहीं दूर होता है। इसलिये कभी कभी कार्यमें सफलता नहीं होती है।

जिन कर्मोंको न बदला जासके न उनकी उदीरणा होसके अर्थात्

जल्दी उदयमें न लाया जासके, किन्तु स्थिति व अनुभाग कम बढ़ किया जासके, उनको निधत्ति कहते हैं। जिन कर्मोंमें न संक्रमण हो न उदीरणा हो न स्थिति व अनुभाग कम व बढ़ हो, जैसा बांधा था वैसा ही भोगना पड़े उनको निकाचित्त कहते हैं।

अल्पज्ञानीको यह पता नहीं हो सक्ता है कि उदयमें आनेवाला कर्म तीव्र है या मन्द है। अतएव हरएक बुद्धिमानका यह कर्तव्य है कि वह हरएक कार्यके आदिमें मंगलाचरण करे, साधारण विघ्नकारक कर्म होगा तो टल जायगा। ग्रंथकी आदिमें मंगलाचरण करनेसे ग्रन्थकर्ताकी श्रद्धा पूज्य अरहंत व सिद्ध परमात्मामें प्रगट होती है। ग्रन्थके पाठकोंकी भी श्रद्धा इस कारण ग्रन्थकर्ताके वचनो पर होजाती है। यहां श्री देवसेनाचार्यने णमोकार मंत्रकी पद्धतिके अनुसार श्री अरहंतोंको नमस्कार न करके श्री सिद्धोंको नमस्कार किया है।

इसका कारण यह है कि ग्रंथकर्ताका लक्ष्य शुद्धात्मापर है। ग्रंथकर्ता शुद्धात्माके तत्वको ही प्रकाश करेंगे। अतएव उन्होंने शुद्धात्मा श्री सिद्ध भगवानोंको ही नमस्कार किया है।

अरहंतोंका आत्मा यद्यपि चार घातीय कर्मोंके क्षयसे सर्वज्ञ वीतराग है तथापि चार अघातीय कर्मोंके उदयके कारण पूर्ण शुद्ध नहीं है, कर्ममल सहित है। आत्माका द्रव्य स्वभाव जैसा है वैसा आदर्श व नमूना केवल सिद्ध भगवानमें ही प्रकाशमान है। सिद्धोंके स्मरणसे ध्यान शरीर रहित व पुद्गलादि अचेतन द्रव्य रहित केवल एक शुद्ध आत्मापर ही जाता है। सिद्धोंका विशेषण भी ऐसा ही

किया है कि जिनकी आत्मा सर्व कर्मोंसे रहित शुद्ध होगई है। संसार पर्यायमें उनकी आत्माने धर्मध्यान फिर शुक्ल ध्यान द्वारा आठों ही कर्मोंको जला डाला है। आठों कर्मोंके न रहनेसे सिद्धोंमें कोई अज्ञान नहीं है, कोई राग, द्वेष मोह नहीं है। अर्थात् कोई भाव कर्म नहीं है और न कोई औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस इन चार शरीररूप कोई नोकर्म है न किसी धन, धान्यादि, मकानादि बाहरी परिग्रहका सम्बन्ध है। आधे कर्मके क्षय होनेसे सिद्धका आत्मा परम निर्मल होगया है। इसका शुद्ध स्वभाव प्रकाशमान होगया है। अर्थात् सिद्ध भगवान अपने पूर्ण शुद्ध स्वभावको प्राप्त कर चुके हैं। सिद्धोंपर ध्यान जानेसे सर्व सांसारिक पर्यायोंका लक्ष्य छूट जाता है। सिद्धके समान अपना आत्मा भी है।

निश्चयसे यही आत्माका स्वभाव है। सिद्धोंके स्मरणसे अपने ही शुद्धात्माका स्मरण होजाता है व यह प्रतीति जम जाती है कि निश्चयसे सिद्धमें और संसारी किसी भी आत्मामें कोई भेद नहीं है। सर्वका स्वभाव एक समान है।

नमस्कार दो प्रकारका होता है-एक भाव नमस्कार दूसरा द्रव्य नमस्कार है। जिसको नमस्कार किया जावे उसके गुणोंको याद करके उसके भीतर अपने भावोंके जोडनेको भाव नमस्कार कहते हैं। वचन व कायसे की हुई नमन क्रियाको द्रव्य नमस्कार कहते हैं। भाव सहित ही द्रव्य नमस्कार फलदाई है। जब सिद्धोंको भाव सहित नमस्कार किया जायगा तब शुद्धात्माके गुणोंमें भाव लीन होजायगा। फल यह होगा कि

नमस्कार करनेवालेका भाव वीतराग होजायगा। यही भाव पापोंके क्षयका कारण है। वीतराग शुद्ध भाव होनेसे निजात्माकी तरफ सन्मुखता होती है। इससे आत्मीक सुखका भी अनुभव आजाता है।

नमस्कार करनेवालेका हेतु भी यही होना चाहिये कि शुद्धात्माके स्मरणसे मेरे भावोंकी शुद्धि होजाय। भाव शुद्धिके सिवाय और किसी बातकी आकांक्षा पूजकको या नमनकर्ताको नहीं रखनी चाहिये। अरहत व सिद्ध दोनों ही परमात्मा वीतराग हैं, समताभावमें तल्लीन हैं, राग द्वेषके विकारोंसे शून्य हैं। न उनमें कभी प्रसन्नता होसक्ती है, न कभी अप्रसन्नता होसक्ती है। वे भक्तोंकी तरफ रागी नहीं होते हैं। उनका सदृश समभाव सर्व पदार्थोंपर रहता है तथापि भक्ति-कर्ताका भाव पवित्र गुणोंके स्मरणसे पवित्र होजाता है। ऐसा ही श्री समंतभद्राचार्यने स्वयंभूस्तोत्रमें कहा हैः—

न पूज्यार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥

भावार्थ—हे वासुपूज्यस्वामी ! आप वीतराग हैं। आपको हमारी पूजासे कोई प्रयोजन नहीं है। यदि हम निन्दा करें तौ भी आप रुष्ट न होंगे क्योंकि आपमें वैरभाव नहीं है। तौ भी आपके पवित्र गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पापरूपी मैलसे छुड़ा देता है।

स्वात्मानन्दके लाभके लिये व निज आत्माके भीतर परिणति एकाग्र करनेके लिये सिद्धोंका स्मरण व ध्यान सदा करना योग्य है। श्री योगीन्द्रदेव निजात्माष्टकमें अपने आत्माका स्वरूप सिद्धके समान बताते हैं।

जोईणं झाण गम्मो परमसुहमहो कम्मणो कम्ममुक्को।
कायाकारो अकाओ कलिकलसमकालेयचत्तो पवित्तो ॥
सम्पत्ताइगुणाड्ढो गलियइहपरसाणुबन्धी विसुद्धो।
सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगओ णिव्वियप्पो णियप्पो ॥ ४ ॥

भावार्थ-परम पदको प्राप्त सिद्धात्मा सर्व विकल्पोंसे रहित अभेद हैं, योगियोंके द्वारा ध्यानगम्य हैं, परम सुखमई व परम ज्ञान ज्योतिस्वरूप हैं, द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्मसे मुक्त हैं, अंतिम शरीरके आकार हैं, तौभी पांच प्रकार शरीरोंसे रहित हैं। सर्व प्रकार पुद्गल सम्बन्धी लेपसे रहित हैं. परम वीतराग हैं, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व इन प्रसिद्ध आठ गुण सहित हैं। उनके भीतर न इस लोक सम्बन्धी कोई आशा है न परलोक सम्बन्धी कोई आशा है। वे पवित्र हैं, वैसा ही मेरा आत्मा भी निश्चय करके है। ऐसा जानकर सोहं मंत्रके द्वारा वैसा ही मैं हूं ऐसा लक्ष्यमें लेकर मैं नित्य निज आत्माका ध्यान करता हूं।

इसतरह सिद्धोंकी स्तुति करके आचार्यने यह प्रतिष्ठा की है कि मैं तत्त्वसारको कहूंगा। जिस तत्त्वसे यह जीव संसारके क्लेशोंसे छूटकर व क्लेशोंके कारण कर्मबंधोंसे छूटकर व कर्मबंधके कारण रागद्वेष मोह भावोंसे छूटकर अपने शुद्ध मुक्त परम स्वभावको प्राप्त करके सदाके लिये कृतकृत्य, सुखी, शुद्ध, निश्चल, स्वभावासक्त होजावे वही तत्त्वसार है। जो कोई इस तत्त्वसारको समझकर दृढ़ श्रद्धालु होता है वही सम्यग्दृष्टि महात्मा है, वही श्रावक तथा साधु

होता है। तत्त्वसारका लाभ करनेवाला ही मोक्षमार्गी है। यही अंतरात्मा क्षपकश्रेणी चढ़कर शुक्ल ध्यानके बलसे चार घातीय कर्मोंका क्षय करके अर्हंत होजाता है। तत्त्वसार परमानन्द दाता है; सर्व भय, शङ्का, शोक, खेद, राग, द्वेष, मोहको निवारण करनेवाला है। जिनवाणी बहुत विशाल है, उस सर्वका सार यह तत्वसार है। जो इस तत्वसारको नहीं पाता है वह भव भ्रमण किया करता है। वह भी जन्म मरण जरा शोक वियोगके दुःखोंसे छूट नहीं सक्ता है। अतएव पाठकोंको व श्रोताओंको परम रुचिके साथ इस तत्वसार ग्रन्थको समझकर तत्वसारका लाभ करना चाहिये।

आगे तत्वका भेद कहते हैं:—

तच्चं बहुभेयगयं पुव्वापरिएहिं अक्खियं लोए।
धम्मस्स वत्तणट्ठं भवियाण पवोहणट्ठं च ॥ २ ॥

अन्वयार्थ-(लोए) इस लोकमें (पुव्वापरिएहिं) पूर्वापर आचार्योंने (धम्मस्स वत्तणट्ठं) धर्मकी प्रवृत्ति करनेके लिये (च भवियाण पवोहणट्ठं) और भव्य जीवोंको समझानेके लिये (बहुभेय-गयं तच्चं) बहुत भेदरूप तत्वको (अक्खियं) कहा है।

भावार्थ—यह लोक जीव और अजीव द्रव्योंका समूह है। जहां जीव अजीव द्रव्य दिखलाई पड़ते हैं उसे लोक कहते हैं। यही बात अनुभवसिद्ध है कि सत्का विनाश नहीं होता है और असत्का जन्म नहीं होता है। जगतमें केवल पर्याय या अवस्थाका उत्पाद तथा व्यय होता है। मूलद्रव्य सदा बना रहता है। सुवर्णके आभूषण कडे, कंठी, कुंडल, भुजबंद आदि बनाए जावें व

बिगाड़े जावें तौ भी सुवर्ण बना रहेगा। कोई अवस्था किसी पहली अवस्थाको बिगाड़ करके बनेगी। जब कोई अवस्था बिगड़े कि दूसरी अवस्था बन जायगी। परिणमनशील जगतके पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। परिणमनका अर्थ बदलना है। अर्थात् किसी अवस्थाको छोड़कर किसी अन्य अवस्थाको प्राप्त कर लेना। जगतका सर्व व्यवहार इसी हेतुमें चल रहा है। कपासका बदलकर कपड़ेके रूपमें होजाना, कपड़ेका सीकर कोट कुरता बनना, कपड़ेका जीर्ण होजाना, फटकर खंडित होजाना, जलकर राख बन जाना राखका रजमें मिल जाना, रजका जमकर भूमि होजाना, जलका गर्मीसे बाष्प बनना, मेघ बनना, मेघोंसे जल होना, जलका प्रवाह वहकर नदी होजाना, घरका बनना बिगड़ना, बीजके संयोगसे अन्नका वृक्ष, आग, पानी, वायु, पृथ्वीके परिवर्तनसे होजाना। अन्नका उपजना, अन्नसे भोजन बनना, भोजनसे शरीरका रुधिरादि होना। ये सब जगतमें अवस्था पलटनेके दृष्टान्त हैं। अवस्थाएं केवल उपजती व बिगड़ती प्रगट होती हैं परन्तु जिनमें अवस्थाएं होती हैं वे मूल द्रव्य बनते व बिगड़ते नहीं विदित होते हैं। स्पर्श रस गंध वर्ण मई मूल परमाणु पुद्गल द्रव्य हैं, उनका कभी विना कारण प्रकाश नहीं होता है न विना कारण लोप होता है। स्कंधसे टूटकर परमाणु बन जायंगे व परमाणु-संग्रह होकर स्कंध होजायगा। परन्तु ऐसा नहीं होसक्ता कि परमाणु अकस्मात् पैदा होजावे व अकस्मात् लोप होजावे। कोई शक्ति ऐंसी नहीं है जो अमूर्तीक आकाशको परमाणु रूप कर देवे या परमाणुको अमूर्तीक आकाश बना देवे या अमूर्तीक

आकाशको विना उपादान कारणके परमाणुओंसे भर देवे। या परमाणुओंका सर्वथा लोप कर देवे, यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इससे यह बात सिद्ध है कि जब जीव अजीव द्रव्य मूलमें न उपजते हैं न नाश होते हैं, तब यह लोक जो जीव अजीव द्रव्योंका समुदाय है वह भी न कभी उपजा है न कभी नाश होगा। इस लिये यह जगत या लोक अनादि व अनंत है। इसीलिये अकृत्रिम uncreated है। बनाई हुई वस्तु ही सादि होती है। जो कभी न बने उसे ही अनादि व अनंत कहते हैं। पहले एक परब्रह्म ही था। उसने अपने उपादानसे जगतको बना दिया यह बात समझमें नहीं आती, क्योंकि परब्रह्म परमात्मा कृतकृत्य व निर्विकार होता है, उसक न कोई प्रयोजन होसक्ता है न कोई इच्छा होसक्ती है कि जगतकी रचना करूं। न अमूर्तीक निराकारसे साकारका जन्म ही होसक्ता है। परब्रह्म निर्विकारी होनेसे न तो वह इस विश्वका उपादानकर्ता है कि वह जड़ व चेतनरूप व नाना जीवरूप होजावे और न वह निमित्तकर्ता है। जैसे मिट्टीको कुम्हार घड़ेके रूपमें बनानेको निमित्त है, व सुवर्णको सुनार मुद्रिकाके रूपमें बनानेको निमित्त है। निमित्त कर्ता चेतन पदार्थ तब ही होगा जब उसके भीतर कोई प्रयोजन होता है, जब उसके भीतर कोई इच्छा होजाती है। कुम्हार व सुनार द्रव्य प्राप्तिकी भावनासे ही घड़ा व आभूषण बनाते हैं। परब्रह्म परमात्माके भीतर कोई सांसारिक प्रयोजन या इच्छा नहीं होसक्ती है, जो वह सांसारिक प्राणियोंकी भांति कार्योंक करनेमें निमित्त हुआ करे। परब्रह्म परमात्मा समदर्शी साक्षीभूत परम ज्योतिस्वरूप निरंजन

निर्विकार होता है। न वह उपादानकर्ता है न वह निमित्तकर्ता है।

यह जगत् मूल द्रव्योंकी अपेक्षा सत्रूप है, नित्य है, अकृत्रिम है, अनादि व अनन्त है, स्वतः सिद्ध है। इस लोकमें भरत व ऐरावत क्षेत्रोंमें हरएक उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालमें २४—२४ तीथकर सदा होते रहते हैं। विदेह क्षेत्रमें कमसेकम वीस व अधिकसे अधिक १६० तीर्थंकर सदा विद्यमान रहते हैं। ये तीर्थंकर जब आत्मध्यानके बलसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अंतराय कर्मोंका क्षय कर देते हैं तब अनंतज्ञान, अनन्तदर्शन, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र, व अनन्तवीर्य तथा अनन्तसुखसे विभूषित होकर अरहन्त कहलाते हैं। ये अरहंत अवस्थामें धर्मका मार्ग बताते हैं, जीवादि तत्वोंको झलकाते हैं, उनकी वाणीको सुनकर गणधरादि द्वादशांग रचना करते हैं, उनको पढ़कर अन्य आचार्य ग्रन्थोंकी रचना करते हैं। इस तरह तत्वोंका उपदेश परम्परासे चला आया हुआ अनादि है।

श्री देवसेनाचार्य कहते हैं कि हमारे आचार्य गुरुने जो कुछ कहा था वह वही कहा था जो परम्परासे पूर्व पूर्वमें प्रसिद्ध आचार्योंने कहा है। इस भरत क्षेत्रमें अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर या वर्द्धमान होगए हैं। उनकी वाणीके अनुसार श्री गौतमगणधरने कहा वैसा ही कथन पांच श्रुतकेवलियोंने किया जो पंचमकालमें हुए हैं। अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु हुए हैं। उनके पीछे अनेक आचार्य वैसा ही कहते आए। दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें श्री कुंदकुंदाचार्यका नाम बहुत प्रसिद्ध है। विक्रम संवत ४९ में यह

आचार्य हुए हैं। इनके द्वारा सम्पादित पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार आदि ग्रंथोंमें अपूर्व तत्वोंका विवेचन है।

सर्व तत्वोंका उपदेश प्रवाहकी अपेक्षा अनादि है। अनभिज्ञ भव्य जीवोंको समझानेके लिये व धर्मका मार्ग चलानेके लिये उन ही तत्वोंके विशेष कथनकी आवश्यक्ता है, जिन तत्वोंके कथनसे व समझनेसे भव्य जीवोंको यह निश्चय होजाय कि यह जीव संसारमें दुःखी क्यों है व इसके दुःख दूर करनेका क्या उपाय है। यह कैसे सुखी होसक्ता है। संसारी जीव अशुद्ध है यह बात प्रगट है। क्योंकि इसके भीतर अज्ञान व क्रोधादि कषाय पाए जाते हैं। ये सर्व दोष हैं, गुण नहीं हैं। अज्ञान, क्रोध, मान, माया व लोभ जब दोष हैं तब ज्ञान, क्षमा, विनय, सरलता, संतोष गुण हैं। यह बात बुद्धिगम्य है, विद्वानोंके द्वारा मानने योग्य है। किसी भी पदार्थमें दोष तब ही होसक्ते हैं जब वह अशुद्ध हो। अशुद्धता तब ही होसक्ती है जब उसके साथ किसी मलीनताकारक अन्य पदार्थका संयोग हो। कपड़ा मैला है क्योंकि मिट्टीका या धूलका संयोग है। पानी गंदला है, क्योंकि मिट्टीका संयोग है। इसी तरह संसारी जीव अशुद्ध है, क्योंकि उसका संयोग कर्म पुद्गलोंसे है। कर्म पुद्गलोंसे बना हुआ एक सूक्ष्मकार्माण शरीर हरएक संसारी जीवके साथ है। यही ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप है। इसी शरीरके भीतर बन्ध प्राप्त आठ प्रकार कर्मोंके उदयसे आत्माकी अवस्था संसारमें अशुद्ध व पर संयोगरूप होरही है। ज्ञानावरणके उदयसे ज्ञान छिपा रहता है, दर्शनावरणके उदयसे दर्शन शक्ति दबी रहती हैं, मोहके उदयसे

मिथ्या श्रद्धान व क्रोधादि भाव होता है। अंतरायके उदयसे आत्मबल प्रगट नहीं होता है। ये चार घातीय कर्म आत्माके गुणोंको अशुद्ध कर देते हैं। शेष चार अघातीय कर्म जीवोंकी बाहरी अवस्था बनाते हैं। आयुकर्म शरीरमें रोक रखता है, नामकर्म शरीरकी अच्छी या बुरी रचना बनाता है, गोत्र कर्म लोक पूजित या लोक निंदित रखता है, वेदनीय कर्म साताकारी पदार्थोंका सम्बन्ध मिलाता है। जहांतक इन आठ कर्मोंका संयोग है वहांतक यह संसारी जीव स्वाधीन नहीं पराधीन है। जन्म मरण, शोक, रोग, खेद, क्लशादि दुःखोंको भोगता है, स्वतंत्रतासे अपने ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख आदि गुणोंका भोग नहीं कर सक्ता। अतएव हरएक संसारी जीवको इस बातके जाननेकी जरूरत है कि इन आठ कर्मोंका संयोग कैसे होता है व इनका वियोग कैसे किया जावे। जिन तत्वोंसे यह प्रयोजनभूत ज्ञान हो उन ही तत्वोंको प्रयोजनभूत तत्व कहते हैं। जैन सिद्धांतमें इसीलिये ये प्रयोजनभूत तत्व सात कहे गये हैं जिनके जाननेसे अपने दुःखोंके होनेका कारण विदित होनेसे उनके मेटनेका उपाय बन सकेगा। श्री अमृतचंद्राचार्य तत्वार्थसारमें कहते हैं—

जीवोऽजीवास्रवौ बन्धः संवरो निर्जरा तथा।
मोक्षश्च सप्त तत्वार्था मोक्षमार्गैषिणामिमे॥ ६॥
उपादेयतथा जीवोऽजीवो हेयतयोदितः।
हेयस्यास्मिन्नुपादानहेतुत्वेनास्रवः स्मृतः॥ ७॥
हेयस्यादानरूपेण बन्धः स परिकीर्तितः।
संवरो निर्जरा हेयहानहेतुतयोदितौ।
हेयप्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः॥ ८॥

भावार्थ—मोक्षमार्गकी इच्छा करनेवालोंके लिये ये सात तत्व बताये हैं। १—जीव, २—अजीव, ३—आस्रव, ४—बन्ध ५—संवर, ६—निर्जरा, ७—मोक्ष।

जीव शरीरादि अजीवसे मिला हुआ है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है तब मात्र अपना जीव तत्व ग्रहण करनेयोग्य है और अजीव तत्व त्यागने योग्य है। त्यागने योग्य अजीवके ग्रहणका कारण बतानेको आस्रव व उसीके ग्रहण या बंध बतानेको बन्धतत्व कहा गया है। त्यागने योग्य अजीवके दूर करनेका कारण बतानेको संवर और निर्जरातत्व कहे गए हैं। त्यागने योग्य अजीवके बिलकुल छूट जानेको बतानेके लिये मोक्षतत्व कहा गया है।

जैसे नौकापर पानी भर जावे तो वह जलमें डूबने लगती है तब पानीको दूर करनेकी आवश्यक्ता पडती है। नौकापति जानता है किस छेदसे पानी आकर भरा है। वह उस छेदको बंद करता है। भरे हुए पानीको दूर करता है तब नौका सीधी अपने नियत स्थानको पहुंच जाती है। इसी तरह जीव अजीवके साथमें जब तक हैं तब-तक संसार-समुद्रमें डूब रहा है। अजीवको दूर करनेकी आवश्यक्ता है। अजीवके आनेका कारण आस्रव है। ठहरनेको बंध कहते हैं। आनेके कारणके रोकनेको संवर व संग्रह प्राप्त अजीवको हटानेको निर्जरा कहते हैं। जब अजीव बिलकुल भिन्न होजाता है तब यह जीव मुक्त होकर सिद्धक्षेत्रमें ऊर्ध्वगमन स्वभावसे चला जाता है। यह मोक्षतत्व है।

दूसरा दृष्टांत रोगीका भी विचारा जासक्ता है। रोगी रोगसे

मुक्त होना चाहता है। वह रोगके होनेके कारणको व रोग बढनेको समझता है। रोग नया न बढ़े इसलिये रोगके कारणोंसे बचता है। प्राप्त रोगके मिटानेको औषधि खाता है तब एकदिन रोगसे मुक्त होकर स्वास्थ्य लाभ कर लेता है। सांसारिक रोगके मेटनेका उपाय इन सात तत्वोंके ज्ञानसे होता है।

जीव तत्व—अजीवसे भिन्न जीव तत्वका स्वरूप विचारा जावे तो यह बिलकुल शुद्ध है। सिद्ध परमात्माके समान अपने शुद्ध पूर्ण ज्ञान, दर्शन, वीर्य सुख आदि गुणोंका धारी है। वर्णादि रहित अमूर्तिक है। लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशोंका धारी है। यह जीव अनेक साधारण और असाधारण गुण और स्वभावोंका अखण्ड पिंड है। यही इसका द्रव्य स्वभाव है। यह असंख्यात प्रदेश रखता है यही इसका क्षेत्र स्वभाव है। यह सदा परिणमनशील है। समय२ अपने गुणोंमें स्वाभाविक परिणमनशील करता है। यही इसका काल स्वभाव है। इस जीवमें जीवत्व, ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि स्वभाव है। यही इसका भाव स्वभाव है। यह अपना जीव अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है। उसी समय इस जीवमें अन्य अनन्त जीवोंका, अनन्त पुद्गलोंका, असंख्यात कालाणुओंका, धर्मास्तिकायका, अधर्मास्तिकायका, आकाश या द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव नहीं है। इसलिये उनकी अपेक्षा नास्तिरूप है। मैं केवल जीव हूं परवस्तु नहीं हूं। अपनेमें अपना सत्व है। उसीमें सर्व परका असत्व है। ऐसा भेद-विज्ञान पूर्वक ज्ञान होने हीसे अपने जीव तत्वका ज्ञान होगा।

जगतके सर्व द्रव्योंके भीतर कुछ प्रसिद्ध साधारण गुण हैं—

(१) अस्तित्व—अपनी सत्ताको सदा रखना। द्रव्य न कभी जन्मा है, न कभी नाश होगा। अनादि व अनन्त है।

(२) वस्तुत्व—प्रयोजनभूतपना। कोई द्रव्य निरर्थक नहीं है।

(३) द्रव्यत्व—सदा परिणमन करते रहना। यदि यह स्वभाव द्रव्यमें न हो तो उसके द्वारा कोई कार्य न हो।

(४) प्रमेयत्व—किसीके द्वारा जाना जाना। यदि कोई जाननेवाला न हो तो उस द्रव्यका होना प्रगट नहीं होसक्ता।

(५) अगुरुलघुत्व—एक ऐसा गुण जिसके कारण परिणमन करते हुए भी द्रव्य अपने स्वभावको कम या अधिक नहीं कर सक्ता है। जितने गुण या स्वभाव जिस द्रव्यमें होंगे वे सदा बने रहेंगे उनमें न एक गुण बढ़ेगा न कोई गुण कम होगा।

(६) प्रदेशत्व—क्षेत्रपना—हरएक द्रव्यका कोई आकार अवश्य होगा। मूर्तीक द्रव्यका मूर्तीक, अमूर्तीक द्रव्यका अमूर्तीक आकार होगा। ये छः सामान्य गुण जीवादि छहों द्रव्योंमें पाए जाते हैं—

जीव तत्वके भीतर विशेष गुण जो जीवमें ही पाए जाते हैं वे मुख्य ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व हैं। पुद्गलकी अपेक्षा जीवमें अमूर्तत्व भी विशेष गुण है।

सर्व जानने योग्यको एक साथ जान सके वह ज्ञान है।

सर्व दर्शनयोग्यको एक साथ देख सके या सामान्यपने जान सके सो दर्शन है।

परम निराकुल अतीन्द्रिय आनन्दका भोग सो सुख गुण है।

अनंतवीर्यसे अपने स्वभावमें रहनेकी व परस्वभाव रूप न होनेकी व अपने स्वभावमें परिणमनेकी अनन्त शक्ति रखना सो वीर्य है। अपने आत्म स्वभावका अनुभव करना, स्वाद लेना सो चेतनत्व है। हरएक जीवका स्वभाव परमात्माके समान ज्ञानानन्दमय परम निर्मल व निराकुल है। पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेशमें कहते हैं—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥ २१ ॥

यह आत्मा स्वानुभवगोचर है, शरीरमें व्यापक है, अविनाशी है, परम परमानन्दमय व लोकालोकका ज्ञाता दृष्टा है।

श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासनमें कहते हैं—

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः ।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥ १४७ ॥

भावार्थ—अपने जीव तत्वको ऐसा जाने कि मैं चेतन स्वरूप हूं, असंख्यात प्रदेशी हूं, अमूर्तीक हूं, शुद्धात्मा हूं, सिद्ध भगवानके समान हूं, ज्ञानदर्शन लक्षणका धारी हूं।

जब जीव तत्वको अजीवसे भिन्न मनन किया जायगा तब वह बिलकुल शुद्ध अपने स्वभावमें ही झलकेगा।

अशुद्ध जीवका स्वरूप भी कुछ विचारने योग्य है। अनादि जगतमें हरएक संसारी जीव अनादि कालसे ही कर्मोंके संयोगमें है। आठ कर्म रूप बंध विद्यमान है। प्रवाहकी अपेक्षा बन्धकी संतान अनादि है। बन्ध होता है व पुराना कर्म फल देकर झड़ता है। इस क्रियाकी अपेक्षा बंध सादि है। जैसे बीजसे वृक्ष और

उस वृक्षसे बीज फिर उस बीजसे वृक्ष होता रहता है। बीज वृक्षका संतान अनादि है उसीतरह राग, द्वेष, मोह पूर्वबद्ध कर्मके उदयसे होते हैं। रागद्वेष मोहसे फिर बंध होता है, बन्धसे फिर रागद्वेष मोह होते हैं।

आत्मा अपने स्वरूपसे पर भावका व पर कार्यका कर्ता भी नहीं है व भोक्ता भी नहीं है। मन, वचन, कायके निमित्तसे योग होता है। आत्मामें सकम्पन होता है। इससे योगशक्ति काम करती है। यह योग भी नामकर्मके उदयसे वर्तन करता है। योगसे क्रिया होती है। तथा अशुद्धोपयोग जो मोहके उदयसे होता है उससे क्रिया होती है। योग और उपयोग ही कर्ता व भोक्ता है।

यदि योग और उपयोग न हो तो आत्मा परभावका व पर-कार्यका व परवस्तुका कर्ता व भोक्ता नहीं होवे। स्वभावसे यह अपने ही शुद्धभावका कर्ता व भोक्ता है।

संसारी जीव कर्मोंके उदयसे नारक, तिर्यंच, मानव, देव इन चार गतिमें भ्रमण किया करता है। नारकियोंके व देवोंके स्थूल बाहरी शरीर वैक्रियिक होता है। तिर्यंच और मानवोंके स्थूल बाहरी शरीर औदारिक होता है। इन शरीरोंके बने रहनेके लिये व उनसे काम करनेके लिये जिन शक्तियोंकी आवश्यक्ता होती है उनको प्राण कहते हैं। वे प्राण पांचइन्द्रिय, मनवचन काय तीन बल आयु व श्वासोश्वास ऐसे दश होते हैं। देव, नारकी व मानव सब दश प्राणोंसे जीते हैं। तिर्यंचोंमें छः भेद होते हैं—

१—एकेन्द्रिय जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिकायि-

कके चार प्राण होते हैं—स्पर्शन इन्द्रिय, शरीरबल, आयु, श्वासोश्वास।

२–इन्द्रिय जीव–लट आदिके छः प्राण होते हैं। ऊपर चारसें रसनाइन्द्रिय और वचनबल बढ़ जाता है।

३–तेन्द्रिय जीव–चेंटी आदिके सात प्राण होते हैं, एक घ्राण-इन्द्रिय बढ़ जाती है।

४–चौन्द्रिय जीव–मक्खी आदिके आठ प्राण होते हैं। एक चक्षु इन्द्रिय बढ़ जाती है।

५–पंचेन्द्रिय असैनी मनरहितके–पानीके कोई जातिके सर्प जैसे, इनके नौ प्राण होते हैं। एक कर्ण इन्द्रिय बढ़ जाती है।

६–पंचेन्द्रिय सैनी–जैसे गाय, भैंस मृगादि, कबूतर, मोर, काकादि, मगरमच्छादि, इनके १० प्राण होते हैं। मनबल बढ़ जाता है।

इन प्राणोंकी रक्षाका नाम जीवन है। इनके वियोगका नाम मरण है। संसारी जीव अपने कर्मद्वारा वर्तनवाले मन, वचन, कायके योगोंसे व कषाय-भावोंसे कर्मोंको बांधते रहते हैं व उनका फल सुखदुख भोगते रहते हैं। अज्ञानी उनमें लिप्त होजाते हैं। ज्ञानी उनसे वैराग्य भाव रखते हैं। इसलिये जीव तत्वके तीन भेद भी कहे जाते हैं।

समाधिशतकमें श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं—

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधाऽत्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ॥ ४ ॥
बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्माके तीन भेद होते हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा। बहिरात्मापना छोड़ना चाहिये। अंतरात्मा होकर परमात्म पद प्राप्त करना चाहिये। जो शरीरादिमें ही आत्मापनेका भ्रम रखता है वह बहिरात्मा मिथ्या दृष्टि है। जिसके भीतरसे भ्रम निकल गया है, जो आत्माको आत्मा रूप व रागादि दोषोंको कर्मकृत विकार जानता है वह अंतरात्मा व सम्यगदृष्टि जीव है। जो सर्व कर्म मल-रहित है वह परमात्मा है। इसतरह जीव तत्वको निश्चयसे द्रव्यरूप शुद्ध जानना चाहिये, कर्मबंधकी अपेक्षा अशुद्ध जानना चाहिये। अशुद्धावस्थामें ही सांसारिक चार गति सम्बन्धी अवस्थाएं होती हैं। उनमें नानाप्रकार शारीरिक व मानसिक कर्म भोगने पड़ते हैं इसलिये अशुद्धताके कारण कर्मोंका बन्ध दूर करके उसे शुद्ध दशामें प्राप्त करना ही हमारा हित है। यह जीव अपने ही रागादि भावोंसे बंधता है। तथा यह आप ही अपने वीतराग भावोंसे बन्धसे मुक्त होकर शुद्ध होसक्ता है।

अजीव तत्व—जीवपना, चेतनपना उनमें नहीं है। ऐसे अजीव द्रव्य जगतमें पांच हैं—१ पुद्गल, २ धर्मास्तिकाय, ३ अधर्मास्ति-काय, ४ आकाश, ५ काल। इनमेंसे पुद्गल मूर्तिक है क्योंकि जिसके भीतर स्पर्श, रस, गंध वर्ण पायाजावे उसे मूर्तिक कहते हैं, शेष चार द्रव्य अमूर्तिक हैं। जगतमें जैसे संसारी जीव अनेक कर्म करते हैं वैसे पुद्गलोंके अनेक कार्य दिखलाई पड़ते हैं। जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य क्रियावान हैं—मुख्य कार्यकर्ता हैं। पुद्गलका सबसे छोटा अंश अविभागी एक परमाणु कहलाता है। दो या अधिक परमा-

णुओंके बंधसे जो पुद्गल बनता है उसको स्कंध कहते हैं। बाहरी निमित्तोंसे परमाणुओंसे स्कंध व स्कंधसे परमाणु बनते रहते हैं। विना चेतनकी प्रेरणाके भी परिणमन अनेक प्रकारका होता रहता है जैसे—अग्निके निमित्तसे पानीका भाफ बनना, मेघोंका बनना, पानी बरसना, बिजली चमकना, इन्द्र धनुष्य बनना, पर्वतोंका बनना, व टूटना आदि स्वाभाविक अनेक परिवर्तन प्रकृतिमें होते रहते हैं। जैसे—भूकम्प, ज्वालामुखी पर्वतका होना आदि। पुद्गलोंके सर्व प्रकारके भेद नीचे लिखे छः मूल भेदोंमें गर्भित हैं—

(१) स्थूल स्थूल—वे स्कंध जो कठोर solid हों। जो टूटने पर विना तीसरी चीजके संयोगके न मिल सकें। जैसे—पत्थर, लकड़ी, कागज, तांबा, पीतल, सोना।

(२) स्थूल—वे स्कंध जो वहनेवाले liquid हो, जो भिन्न होनेपर भी परस्पर मिल जावें जैसे—पानी, शरबत, दूध आदि।

(३) स्थूल सूक्ष्म—वे स्कंध जो देखनेमें आवें परन्तु हाथोंसे ग्रहण नहीं हो सकें। जैसे—धूप, छाया, प्रकाशादि।

(४) सूक्ष्म स्थूल—वे स्कंध जो आंखके सिवाय अन्य चार इन्द्रियोंसे ग्रहणमें आवे। जैसे—वायु, रस, गंध, शब्द आदि।

(५) सूक्ष्म—वे स्कंध जो किसी भी इन्द्रियसे न जाने जावें जसे—तैजस वर्गणा, कार्मण वर्गणा आदि।

(६) सूक्ष्म सूक्ष्म—एक पुद्गलका अविभागी परमाणु।

श्री गोम्मटसारमें पुद्गलके स्कंधोंकी बनी हुई बाईस प्रकारकी वर्गणाएं प्रसिद्ध हैं। उनमेंसे पांच प्रकारकी वर्गणाओंसे संसारी

जीवोंका निकट सम्बन्ध है। आहारक वर्गणाओंसे स्थूल शरीर वैक्रियिक, आहारक व औदारिक बनता है। भाषा वर्गणाओंसे भाषा बनती है, मनोवर्गणाओंसे द्रव्यमन बनता है जो कमलके आकार हृदय स्थानपर रहता है। तैजण वर्गणाओंसे तैजस शरीर—विजलीका शरीर (electric body) बनता है। कार्मणवर्गणाओंसे कार्मण शरीर बनता है। पिछले दो शरीर सर्व संसारी जीवोंके सर्वदा पाए जाते हैं। सर्व लोक सूक्ष्मसे स्थूल स्थूलतक सर्व प्रकारके पुद्गलोंसे परिपूर्ण है।

धर्मास्तिकाय लोकव्यापी एक अमूर्तीक अखण्ड द्रव्य है। जिसके निमित्तसे जीव और पुद्गल एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाते हैं। यह गमन क्रियामें उदासीन परमावश्यक निमित्त है। जैसे—पानी मछलीके गमनमें आवश्यक निमित्त है, यह प्रेरक नहीं है।

अधर्मास्तिकाय लोकव्यापी एक अमूर्तिक अखण्ड द्रव्य है जिसके निमित्तसे जीव और पुद्गल चलते हुए ठहर जाते हैं। यह ठहरे रहनेके काममें उदासीनपने परमावश्यक निमित्त है। जैसे वृक्षकी छाया पथिकजनोंको ठहरनेमें निमित्त है। यह भी प्रेरक नहीं है।

आकाश अनंत मर्यादा रहित सर्वव्यापी एक अखंड अमूर्तिक द्रव्य है जो सर्व अन्य द्रव्योंको अवकाश देता है। जितने मध्य भागमें अन्य पांच द्रव्य आकाशमें रहते हैं उसे लोक कहते हैं। उसके बाहर चारों तरफ अनंत आकाशको अलोक कहते हैं। काल द्रव्य सर्व द्रव्योंके परिवर्तनमें या अवस्था पलटनेमें उदासीन

आवश्यक निमित्त कारण है। यह भी अमूर्तिक द्रव्य है, यह कालाणु रूप है। लोकाकाशको यदि एक प्रदेशके मापसे मापा जावे तो उसमें असंख्यात प्रदेशोंकी माप बैठेगी। ये कालाणु हरएक प्रदेशमें भिन्न २ हैं अतएव ये भी संख्यामें असंख्यात हैं।

जितने आकाशको एक अविभागी पुद्गलका परमाणु रोकता है उतने अंशको प्रदेश कहते हैं।

जीव और पुद्गल जगतमें चलने, ठहरने, अवकाश पाने व पर्याय पलटनेका मुख्य काम करते हैं, उनके इन चार कामोंमें शेष चार द्रव्य क्रमसे सहायक हैं। क्योंकि हरएक कार्यके लिये उपादान और निमित्त दोनों कारणोंकी आवश्यक्ता है। उपादान कारण तो ये जीव और पुद्गल स्वयं हैं। निमित्त कारण गमनादिमें धर्मादि चार द्रव्य हैं। इसतरह जीव और अजीव तर्कसे यह बोध होजाता है कि यह लोक छः द्रव्योंका समुदाय है। इन छः द्रव्योंके सिवाय लोकमें कुछ भी नहीं है।

संसारी आत्माके साथ कार्मणवर्गणाओंका संयोग कैसे होता है अर्थात् पाप तथा पुण्यका बंध कैसे होता है, इस बातको समझानेके लिये आस्रव और बंधतत्व हैं। तथा नवीन कार्मण-वर्गणाओंका आना कैसे बन्द होता है, इसे बतानेके लिये संवर तत्व है। बंध प्राप्त कार्मणवर्गणाएं कैसे शीघ्र छुड़ा दी जावे यह बात निर्जरा तत्वसे जान पड़ती हैं। सर्व कर्मवर्गणाओंसे छूटकर आत्मा शुद्ध होजाता है, यह बात मोक्ष तत्वसे विदित होती है।

३–आस्रव और ४–बंधतत्व–कार्मणवर्गणाएं तीन लोकमें

व्याप्त हैं, उनका आकर बंधना एक साथ ही होता है, एक ही समयमें होता है। बन्धके सन्मुख होनेको आस्रव व बन्धनेको बन्ध कहते हैं। दोनोंके निमित्त कारण जीवके अशुद्ध भाव भी समान हैं। मूल भाव दो हैं-योग और कषाय। आत्मामें कर्मोंको और अन्य आवश्यक पुद्गलकी वर्गणाओंको आकर्षण करनेकी एक शक्ति है जिसको योगशक्ति कहते हैं। हरएक संसारी जीवके साथ काय, वचन या मन उनमेंसे एक या दो या तीन होते ही हैं। जब इनमेंसे कोई कुछ काम करता है तब ही इनमें व्यापक आत्माके प्रदेश भी हिलते हैं उसी समय योगशक्ति पुद्गलोंको खींच लेती है।

योगशक्ति जब कर्मोंको खींचती है तब उस योगशक्तिके साथ कषायका रंग भी रहता है। कषायके संयोगवश योगशक्ति आठ कर्म होने योग्य, कभी सात कर्म होने योग्य, कभी छः कर्म होने योग्य कार्मणवर्गणाओंको खींचती है। जब योगशक्ति कषायरहित होती है तब केवल साता वेदनीय कर्मयोग्य वर्गणाओंको खींचती है।

इस तरह आस्रवके कारण योग और कषाय हैं।

बंध चार प्रकारका होता है-कार्मणवर्गणाओंमें कर्मकी प्रकृति या स्वभावका होना वह प्रकृति बंध है जैसे-ज्ञानावरणादि प्रकृतियोंका होना कि अमुक कार्मणवर्गणाओंका स्वभाव ज्ञानको ढकनेका है, अमुकका स्वभाव दर्शनको ढकनेका है, अमुकका स्वभाव मोह उत्पन्न करनेका है इत्यादि तथा किस कर्मके योग्य कितनी संख्याकी कर्मवर्गणाएं आकर बंधी इसको प्रदेश बन्ध कहते हैं। ये दोनों बातें योगोंकी विशेषतासे होती हैं।

योगशक्तिद्वारा प्रकृति व प्रदेश बंध होजाते हैं।

बंधप्राप्त कार्मणवर्गणाएं कितने कालतक बंधी हुई ठहरेगी, इस कालकी मर्यादाको स्थितिबंध कहते हैं। ये बन्धप्राप्त कार्मणवर्गणाएं अपना फल तीव्र या मन्द देगी इस शक्तिकी प्रगटताको अनुभागबन्ध कहते हैं। ये दोनों बन्ध कषायोंके अनुसार होते हैं।

आयुकर्मको छोड़कर शेष सात कर्मोंकी स्थिति तीव्र कषायसे अधिक व मन्द कषायसे कम पड़ती है। आयुकर्ममें नर्कायुकी स्थिति तीव्र कषायसे अधिक व मन्द कषायसे कम पडती है, शेष—तिर्यंच, मनुष्य व देव आयुकी स्थिति तीव्र कषायसे कम व मन्द कषायसे अधिक पडती है।

आठ कर्मोंमें पाप पुण्य भेद हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय चार घातीय कर्म पापकर्म कहलाते हैं। क्योंकि ये आत्माके स्वभावको मलीन या विपरीत करते हैं।

शेष चार अघातीय कर्मोंमें साता वेदनीय, शुभनाम, उच्च गोत्र तथा शुभ आयु पुण्य कर्म हैं तथा असाता वेदनीय, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा अशुभ आयु पापकर्म हैं।

जब कषाय तीव्र होती है तब पापकर्मोंमें अनुभाग अधिक व पुण्य कर्मोंमें कम पडता है। जब कषाय मंद होती है तब पुण्य कर्मोंमें अनुभाग अधिक व पाप कर्मोंमें कम पड़ता है।

योग और कषायोंसे साधारण रूपसे आयु कर्मको छोड़कर सात कर्मोंका बन्ध सदा ही हुआ करता है। आयु कर्मका बन्ध विशेष समयमें होता है। जब दान, सेवा, परोपकार, दया, क्षमा,

शील, संतोष, भक्ति, जप, तप आदिके शुभ भाव होते हैं तब कषाय मंद होती है। उस शुभोपयोग रूप मंद कषायसे चार घातीय कर्मका बन्ध तो मन्द अनुभाग रूप होगा, परन्तु उसी समय पापरूप अघातीय कर्मका बंध न होकर साता वेदनीयादि पुण्यरूप अघातीय कर्मका बंध तीव्र अनुभाग रूप होगा। जब हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहकी तृष्णा, इन्द्रिय विषयकी लम्पटता, परको हानि, तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ व तीव्र शोक, भय, जुगुप्सा व कामभाव आदि अशुभ भाव होते हैं, तब कषाय तीव्र होती है। उस समय चार घातीय कर्मका तथा असातावेदनीयादिरूप व पापरूप अघातीय कर्मका बन्ध तीव्र अनुभागरूप होगा, उस समय साता-वेदनीयादि पुण्य कर्मका बन्ध नहीं होगा।

इन्हीं आस्रव व बंधके मूल कारण योग और कषाय भावोंका विस्तार सत्तावन (५७) आस्रव भावोंमें किया गया है।

५७ आस्रव भाव–पांच मिथ्यात्त्व, बारह अविरति, पच्चीस कषाय, पंद्रह योग इस तरह ५+१२+२५+१५=५७ आस्रव हैं।

मिथ्या श्रद्धानको मिथ्यात्व कहते हैं। उसके कारण पांच हैं–

पांच मिथ्यात्व।

एकांत मिथ्यात्व–वस्तुमें अनेक स्वभाव हैं उनमेंसे एक ही स्वभाव होनेका हठ करना। जैसे वस्तु स्वभावकी अपेक्षा नित्य है पर्याय पलटनेकी अपेक्षा अनित्य है। दोनों स्वभाव एक ही समयमें एक साथ हैं तौ भी वस्तुको या तो केवल नित्य ही मानना या केवल अनित्य ही मानना एकांत मिथ्यात्व है।

विपरीत मिथ्यात्व—जो कभी धर्म नहीं होसक्ता है उसे धर्म मानकर श्रद्धान करना विपरीत मिथ्यात्व है। जैसे—पशुवधमें व कामभोगमें, व मांस मदिरा सेवनमें धर्म मान लेना।

विनय मिथ्यात्व—सत्य व असत्यकी परीक्षा न करके हरएक तत्वको ठीक मानके भोलेपनसे विनय करना विनय मिथ्यात्व है। रागी व वीतरागीको पहचाने विना रागी देव—शास्त्र—गुरुको व वीत-रागी देव—शास्त्र—गुरुको समान मानके भक्ति करना।

संशय मिथ्यात्व—अनेक प्रकार तत्वोंको जानकर निर्णय न करपाना कि कौनसा तत्व सत्य है। शंका रखना कि अमुक तत्व सत्य है या अमुक तत्व सत्य है, संशय मिथ्यात्व है।

जीव स्वतंत्र पदार्थ है या पृथ्वी आदि धातुओंका बना हुआ है, इस बातका निर्णय न करके संशय रखना।

अज्ञान मिथ्यात्व—मूढभावसे किसी तत्वको जाननेका उद्यम न करना, देखादेखी धर्मक्रियाओंको करते रहना। उनका हेतु न समझना, फलको न समझना सो सब अज्ञान मिथ्यात्व है।

१२ अविरति भाव—पांचइन्द्रिय व मनके विषयोंको वश न करना, चंचल रखना और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति-कायिक तथा द्विन्द्रियादि त्रस कायिक प्राणियोंकी रक्षा करनेका भाव न रखना इस तरह ६ इन्द्रिय असंयम + ६ प्राण असंयम= १२ अविरति भाव हैं।

२५ कषाय=१६ कषाय + ९ नो कषाय।

क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंके चार चार भेद हैं।

४ अनंतानुबंधी क्रोधादि–जिनके प्रभावसे तत्वोंका सच्चा श्रद्धान नहीं होता न आत्मामें थिरता होती है–सम्यग्दर्शनको रोकनेवाली है।

४ अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि–जिनके प्रभावसे गृहस्थ श्रावकके व्रतोंके पालनेके भाव नहीं होते हैं।

५ प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि–जिनके प्रभावसे साधुके महाव्रतादि पालनेके भाव नहीं होते हैं।

४ संज्वलन क्रोधादि–जिनके प्रभावसे पूर्ण वीतराग भाव या यथाख्यात चारित्र नहीं होता है।

९ नोकषाय या मित् या हलकी कषाय–हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद।

पंद्रह योग–४ मन योग + ४ वचन योग + ७ काय योग। सत्य, असत्य, उभय (सत्य मिश्रित असत्य), अनुभय (जिसको सत्य व असत्य नहीं कह सके) ऐसे चार प्रचार मनके विचार–चार मनोयोग हैं।

सत्य वचन, असत्य वचन, उभय वचन, अनुभय वचन (जिसे सत्य भी नहीं कह सके, असत्य भी नहीं कह सके) चार वचन योग हैं।

सात काय योग–औदारिक काय, औदारिक मिश्रकाय, वैक्रियिक काय, वैक्रियिक मिश्रकाय, आहारक काय, आहारक मिश्रकाय, कार्मण काय।

इस तरह ५७ आस्रवभाव होते हैं। एक समयमें जैसे शुभ या अशुभ भाव होंगे वैसे ही कर्मोंका आस्रव तथा बन्ध होगा।

आठों कर्मोंके एकसौ अडतालीस भेद हैं। उनके नाम व उनमेंसे कितने कर्म एकसाथ एक किसी जीवके बंधते हैं व उदयमें आते हैं व सत्त्व में रहते हैं, यह वर्णन जानना आवश्यक है। इसके लिये श्री गोमट्टसार कर्मकांड स्थान समुत्कीर्तन अधिकार ध्यानपूर्वक पढ़ जाना चाहिये अथवा हमारे द्वारा संपादित श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक द्वितीय भागको ध्यानसे स्वाध्याय करना चाहिये।

५ **संवर तत्व**—जिन २ भावोंसे कर्मोंका आस्रव या बंध होता है उन २ भावोंके विरोधसे कर्मोंका आना व बन्ध रुक जाता है।

कषायोंका उदय दशवें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थानतक रहता है। इसलिये वहांतक सांपरायिक आस्रव व बन्ध हुआ करता है। ग्यारहवें उपशांत मोह, बारहवें क्षीण मोह व तेरहवें सयोग केवली गुणस्थानमें योग होता है, कषाय नहीं होते हैं। इसलिये केवल सातावेदनीय कर्मका ईर्यापथ आस्रव होता है। कर्म आते हैं व दूसरे समय झड़ जाते हैं। इसलिये कषायोंको जीतनेसे संवर होजाता है। विस्तारकी अपेक्षा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग चार भाव आस्रव कहे हैं तब चार ही भाव संवर भी होंगे। मिथ्यात्वका विरोधक सम्यग्दर्शन है, अविरतिका विरोधक व्रतपालन है, कषायका निरोध वीतराग भावसे होता है। योगोंका विरोध मन वचन कायकी गुप्तिसे होता है।

गुणस्थानोंकी अपेक्षा संवर भाव—पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें संवर नहीं है, दूसरे सासादन गुणस्थानमें मिथ्यात्व नहीं है किंतु अनंतानुबंधी कषाय है व शेष अविरति आदि हैं तब मिथ्या-

त्वसे जो कर्म आते थे वे नहीं आने हैं। तीसरे मिश्र गुणस्थानमें अनंतानुबंधी कषाय नहीं है तब अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे जो कर्म आते थे वे रुक जाते हैं। चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानमें भी मिथ्यात्व व अनंतानुबन्धी कषाय संबन्धी कर्म नहीं आते है। पांचवे देशविरत गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण कषायोंका उदय नहीं है। इसमे इन कषायोंसे आनेवाले कर्म रुक जाते हैं। यहीं अविरति एक देश निरोध हुई है। छट्ठे प्रमत्तविरत गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरण कषायोंका भी उदय नहीं है, अविरति बिलकुल नहीं रही।

अहिंसादि मह व्रतोंको साधु पालते हैं, तब यहां मिथ्यात्व व अविरति संबंधी भव आस्रव नहीं रहे। सातवे अप्रमत्त गुणस्थानमें भी यही बात है, केवल संज्वलन व नौ नोकषायोंका मन्द उदय है। इससे उसी प्रकारका आस्रव व बन्ध है। आठवें अपूर्वकरण गुण स्थानमें इन कषायोंका और भी मन्द उदय है, वैसा ही आस्रव है। नौमे अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें केवल तीन भेद व चार संज्वलन कषायका उदय है सो भी घटता जाता है वैसा ही संवर बढ़ता जाता है। दशवें सूक्ष्मलोभ गुणस्थानमें केवल सूक्ष्म संज्वलन लोभका उदय है इससे मोहनीय कर्मका बिलकुल संवर है। आयुको छोड़कर शेष छः कर्मोंका आस्रव होता है। ११, १२, १३ गुणस्थानोंमें केवल योग ही आस्रव है जिससे साता वेदनीयका आस्रव होता है। १४वें अयोग गुणस्थानमें आस्रव सम्बन्धी योग भी नहीं है इसलिये वहां पूर्ण संवर है। इस गुणस्थानको पार करके जीव मुक्त होजाता है।

चरणानुयोगकी अपेक्षा संवर प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे धर्मोका साधन करना चाहिये—

पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग।

पांच समिति—ईर्या समिति—देखके चलना, भाषा स०—शुद्ध वचन कहना, एषणा स०—शुद्ध आहार भिक्षासे लेना, आदान-निक्षेपण स० शास्त्रादि देखकर रखना, उठाना, प्रतिष्ठापन-मलमूत्र देखकर करना।

तीन गुप्ति—मन, वचन, कायको रोककरके धर्मध्यानमें लगना।

दश धर्म—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य।

बारह भावनाएं—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, बोधिदुर्लभ, लोक, धर्म।

बाईस परिषह जीतना—१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दंशमशक, ६ नग्नता, ७ अरति, ८ स्त्री, ९ चर्या, १० निषिद्या (बैठना), ११ शय्या, १२ आक्रोश (गाली), १३ वध, १४ याचना (मांगना नहीं), १५ अलाभ, १६ रोग, १७ तृण स्पर्श, १८ मल, १९ सत्कार पुरस्कार, २० प्रज्ञा, २१ अज्ञान, २२ अदर्शन (श्रद्धान न बिगाडना।

पांच चारित्र—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय, यथ ख्यात चरित्र।

६ निर्जरा तत्व—निर्जरा दो तरहकी है—एक सविपाक

निर्जरा, दूसरी अविपाक निर्जरा । जब कर्म बन्धते हैं उसके पीछे कुछ समय उनके पकनेमें लगता है उस पकनेके कालको आबाधा-काल कहते हैं । एक कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिके लिये सौ वर्षका आबाधाकाल होता है तब एक सागरकी स्थितिके लिये बहुत ही अल्प एक उछ्वास मात्र होगा । आबाधकालके समाप्त होनेके पीछे जितनी स्थिति जिस कर्ममें शेष होती है उतनी स्थितिके समयोंमें उस कर्मकी वर्गणाएं बट जाती हैं । बटवारा इस तरह होता है कि पहले अधिक संख्या आती है फिर क्रमशः कम होती जाती है । अंतमें सबसे कम वर्गणाएं रह जाती हैं ।

इस बटवारेके अनुसार ये कर्मवर्गणाएं समयर गिर पड़ती हैं, इसको सविपाक निर्जरा कहते हैं । यदि बाहरी निमित्त अनुकूल होता है तो फल प्रगटकर ये वर्गणाएं गिरती हैं । यदि निमित्त अनुकूल नहीं होता है तो विना फल दिये ही गिर जाती हैं जैसे कोई मानव आध घंटा एकांतमें आत्मतत्वका चिंतवन करता हुआ बैठा है, उससमय क्रोधकषाय कर्मकी वर्गणाएं झड़ रही हैं परन्तु कोई निमित्त क्रोधके प्रगट करनेका न होनेपर वे विना फल दिये झड़ रही हैं ।

कर्मबन्धके पीछे कर्मोंके भीतर तीन तरहके परिवर्तन भी वर्तमानके भावोंके अनुसार होसक्ते हैं—

(१) संक्रमण—पुण्य कर्ममें पापको व पापको पुण्य कर्ममें या पुण्य पापके भीतर ही अपने २ दोनें पलटन होना । जैसे अनंतानुबंधी कषायको अप्रत्याख्यानादि रूप कर देना या असाता वेदनीयको साता वेदनीयरूप कर देना ।

(२) उत्कर्षण–कर्मोंकी स्थिति या अनुभागका बढ़ा देना।

(३) अपकर्षण–कर्मोंकी स्थिति या अनुभागका कम कर देना।

किसी विशेष बाहरी कारण होनेपर किसी कर्मकी स्थिति घट कर वह शीघ्र उदय होजाता है व फल देता है, इस बातको उदीरणा कहते हैं। जैसे–तीव्र क्षुधाका कष्ट होनेपर असाता वेदनीयकी उदीरणा होने लगती है।

अविपाक निर्जरा–वीतराग शुद्ध भावोंके द्वारा कर्मोंको उनके विपाक समयसे या नियत पतन समयसे पहले ही दूर कर दिया जाता है, इसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। इसका मुख्य कारण आत्माका शुद्ध वीतराग भाव है। यह भाव शुद्धात्मीक ध्यानसे प्राप्त होता है। इस निर्जराके लिये बारह प्रकार तपका अभ्यास आवश्यक है। उसमें मुख्य तप ध्यान है।

१२ तप–अनशन–खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय चार प्रकार आहारका त्याग कर दिनरात धर्मध्यानमें पूर्ण करना।

अवमोदर्य-पूरा पेट भोजन न करके यथासंभव कम करना।

(३) वृत्तिपरिसंख्यान–साधु भिक्षाके लिये जाते हुए किसी प्रतिज्ञाको कर लेते हैं उसके पूर्ण होनेपर आहार करते हैं नहीं तो उस दिन उपवास कर जाते हैं। जैसे किसीने प्रतिज्ञा की कि आज कलशपर नारियल धरे हुए कोई वृद्ध पुरुष पड़गाहेगा तो भोजन करेंगे, ऐसा निमित्त न मिलनेपर उपवास होजायगा।

(४) रस परित्याग–दूध, दही, घी, मीठा, लवण, तैल इन छः रसोंमेंसे एक व अनेक त्याग देना।

(५) विविक्त शय्यासन—एकांतमें सोना बैठना ।

(६) कायक्लेश—शरीरका सुखियापना मिटानेको कठिन स्थानोंमें बैठकर या खड़े होकर ध्यान करना, जैसे—कभी धूपमें आतापन योग धारण करना ।

(७) प्रायश्चित्त- अपने व्रतोंमें कोई अतीचार होनेपर उसका दंड लेकर अपनेको शुद्ध करना ।

(८) विनय—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तपका व इनके धारनेवालोंका बहुत आदर करना ।

(९) वैय्यावृत्य—थके हुए, रोगी व असमर्थ धर्मात्माओंकी सेवा करना ।

(१०) स्वाध्याय-शास्त्रोंको पढ़ना, विचारना, मनन करना, कंठस्थ करना, व धर्मोपदेश करना ।

(११) व्युत्सर्ग कायसे व सांसारिक भावोंसे विशेष ममत्व छोडना ।

(१२) ध्यान—निश्चल भावोंमे आत्माका ध्यान करना ।

इन बारह तपोंमें वर्तन करते हुए जितने अंश वीतराग भाव होंगे उतने अंश कर्मोंका क्षय होगा । वीतराग भावोंकी प्रबलतासे कभीर अनेक जन्मोंके बांधे पाप कर्म क्षण मात्रमें क्षय होजाते हैं ।

समयसारमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसम्पण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मारज्ज ॥ १६० ॥

भावार्थ-रागी जीव कर्मोंको बांधता है । वीतरागी जीव

कर्मोंसे छूट जाता है। ऐसा श्री जिनेन्द्रका उपदेश है। इस लिये शुभ व अशुभ कर्मोंसे रागद्वेष मत करो, समभावसे भोग लो। जब कर्म अपना फल देते हैं उस समय यदि समभावसे उन्हें भोग लिया जावे तब वे कर्म क्षय होजायगे। परन्तु नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होगा या बहुत अल्प होगा। यदि रागद्वेष सहित कर्मोंको भोगा जायगा तो नवीन बंध भी बहुत होगा।

मोक्षतत्व—सर्व कर्मोंसे व कर्मके फलसे छूट जानेको मोक्ष कहते हैं। श्री उमास्वामीने तत्वार्थसूत्रमें लक्षण कहा है—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

कर्मबंधके कारण जो मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय तथा योग थे उन सबके न रहनेपर, इसलिये नवीन कर्मोंका आस्रव बिलकुल बन्द होजानेपर जैसा कि चौदहवें अयोग गुणस्थानमें होता है और पूर्व बांधे हुए सब कर्मोंकी निर्जरा होजानेपर इस तरह सर्व द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नोकर्मसे अत्यंत रहित होकर केवल शुद्धात्माका रह जाना मोक्ष है। मोक्षमें आत्मा अपने स्वभावमें होजाता है। उपाधिका कारण कर्म नहीं रहता है। जैसे सरोवरमें एक ओरसे पानी आता था दूसरी ओरसे पानी जाता था, सरोवर सदा भरा दीखता था। जब पानीके आनेका द्वार बन्द कर दिया गया और पानी निकलनेके मार्गको चौड़ाकर दिया गया तो एक दिन सर्व पानी निकल जायगा। और वह सरोवर पानीसे खाली होजायगा। इसी तरह आत्मा संवर और निर्जराके कारण शुद्ध व मुक्त होजाता है।

मोक्ष प्राप्त आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन होता है। अतएव अग्निकी शाखाके समान वह ऊपरको जाकर जहां तक धर्मास्तिकाय है वहां तक जाता है। अर्थात् लोकके अंतमें ठहर जाता है। उस क्षेत्रको सिद्धक्षेत्र कहते हैं।

मोक्ष प्राप्त आत्माओंमें न तो मन, वचन, काय द्वारा योग होता है न राग द्वेष मोह भाव होते हैं, इसलिये नवीन कर्मोंका आस्रव व बंध नहीं होता है। अवश्य वे फिर कभी संसारमें भ्रमण नहीं करते हैं। वे स्वाभाविक आनंद व ज्ञानादि गुणोंका भोग करते हुए परम कृतकृत्य व परम शांत अपने आप रूप होकर ही परिणमन करते हैं—

श्री तत्वार्थसारमें श्री अमृतचंद्रजी महाराज कहते हैं।—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥ ७ ॥
आकारभावतोऽभावो न च तस्य प्रसज्यते।
अनन्तापरित्यक्तशरीराकारधारिणः ॥ १९ ॥
संहारे च विसर्पे च तथात्मानात्मयोगतः।
तदभावात्तु मुक्तस्य न संहारविसर्पणे ॥ १८ ॥
यथाधस्तिर्यगूर्द्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निवीचयः।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्द्ध्वगतिरात्मनाम् ॥ ३१ ॥
संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥ ४९ ॥

भावार्थ—जैसे बीजके जल जानेपर फिर उससे वृक्षका अंकुर पैदा नहीं होता है उसी तरह कर्मके बीजके जलजानेपर संसाररूपी

अंकुर फिर पैदा नहीं होता है । सिद्ध भगवान आकार सहित होते हैं । आकारका अभाव नहीं होता है । जिस शरीरको छोड़कर वे सिद्ध होते हैं उसके समान आत्माका आकार बना रहता है । जब तक आत्मा अनात्मा अर्थात् नाम कर्मके संयोगमें था या जब तक नाम कर्मका उदय था तब तक आत्माके प्रदेशोंका संकोच व विस्तार होता था । सर्व कर्मोंके अभाव होनेपर सिद्धोंके आत्माके प्रदेशोंका संकोच व विस्तार नहीं होता है ।

जैसे मिट्टीके ठिकरेकी गति स्वभावसे नीचेको, पवनकी गति तिर्यक् या विस्तारमें या अग्निकी लौकी गति ऊपरको होती है इसी तरह सिद्ध आत्माओंकी गति स्वभावसे ऊपरको होती है । सिद्धोंको संसारके विषयोंसे रहित अविनाशी स्वाभाविक सुख होता है । इसी लिये उसको बाधारहित व उत्कृष्ट सुख परम ऋषियोंने कहा है ।

इस तरह सात तत्वका स्वरूप व्यवहार या अशुद्ध नयसे या पर्याय दृष्टिसे जानना योग्य है । कहीं२ नौपदार्थों या तत्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है । पुण्य पापको सात तत्वोंमें जोड़नेसे नौ पदार्थ या तत्व होजाते हैं । वास्तवमें पुण्य व पाप आस्रव व बंध तत्वोंमें गर्भित है । जगतके प्राणी पुण्य पापको समझते हैं इसलिये उनको विशेष समझनेके लिये अलग कहा गया है ।

निश्चयसे विचार किया जावे तो इन सात या नौ तत्वोंमें जीव और पौद्गलिक कर्मका ही संयोग है । जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य हैं । इनमेंसे पुद्गल मेरा स्वरूप नहीं है इसलिये वैराग्यके योग्य है । जीव ही मैं हूं, जीव रूप ही रहना मेरा स्वरूप है ।

अर्थात् मैं शुद्ध जीव द्रव्य हूं, ऐसा श्रद्धान करना ही सम्यक्त है । इस निश्चय सम्यक्तके लिये सात तत्वोंका श्रद्धान निमित्त कारण है । इससे इसको व्यवहार सम्यक्त कहते हैं । अरहंत व सिद्ध सर्वज्ञ वीतराग पूज्य देव हैं । परिग्रह त्यागी आत्मज्ञानी निर्ग्रंथ गुरु हैं, व अर्हतका वचन व उनके अनुसार शास्त्र जिनवाणी है, ऐसा श्रद्धान करना भी व्यवहार सम्यक्त है । यह भी तत्वार्थ श्रद्धानका कारण है क्योंकि अरहंत व सिद्ध तो शुद्धात्माके आदर्श हैं । इनकी प्रतीतिसे आपको उनरूप करनेकी श्रद्धा होगी—सद्गुरुकी प्रतीतिसे उनके वचनों पर श्रद्धा होगी तब उपदेश मिलेगा व उसका ग्रहण होगा । शास्त्रकी प्रतीतिसे शास्त्रके वचन पर विश्वास होगा । बहुतसा सूक्ष्म कथन अल्पज्ञानीकी बुद्धिमें नहीं बैठता है तब उसको आगम प्रमाणसे मानना ही हितकर है ।

यह सब तत्वका विस्तार भव्य जीवोंके हितके लिये व धर्ममार्ग चलानेके लिये कहा गया है ।

स्वपरतत्व ।

एवं सगयं तच्चं अण्णं तह परगयं पुणो भणियं ।
सगयं णिय अप्पाणं इयरं पंचावि परमेट्ठी ॥ २ ॥

अन्वयार्थ–(पुणो) फिर (तह) इस प्रकारसे (तच्चं) तत्व (सगयं) स्वतत्व (अण्णं) दूसरा (परगयं) परतत्व (भणियं) कहा गया है (सगयं) स्वतत्व (णिय) अपना (अप्पाणं) आत्मा है (इयरं) दूसरा परतत्व (पंचावि परमेट्ठी) पांचों ही परमेष्ठी हैं ।

भावार्थ—सात तत्वोंके भीतर जीव तत्व सार है—इस जीव तत्वमें जो संसारमें भ्रमणके कारण मिथ्यात्व कर्मसे मलीन आत्माएं हैं, उनको ध्यानमें न लेकर जो मोक्ष-मार्गपर आरूढ़ शुद्ध चारित्रवान आत्माएं हैं उनको यहां परतत्व कहा गया है तथा अपने ही शुद्ध आत्माको स्वतत्व कहा गया है। जिस तत्वके अनुभवसे मोक्षमार्गकी सिद्धि हो ऐसा तत्व केवल निज शुद्धात्मा है। जब शुद्धात्माका श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुभव किया जाता है तब स्वानुभव उत्पन्न होता है। इसीसे वीतरागता होती है, जो अग्निके समान कर्मोंको जलाती है और आत्माको पवित्र करती है। जिनके द्वारा साधक भव्य जीव अपने भावोंको धर्मभावमें स्थिर रखनेका अभ्यास करे व अपने ही शुद्धात्माकी ओर पहुंच जावे। ऐसे परतत्व पांच परमेष्ठी हैं। जगतमें परम इष्ट व परम पदमें रहनेवाले पांच उत्कृष्ट पद हैं। जिनको सर्व ही इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि नमस्कार करते हैं।

शास्त्रमें सौ इन्द्र प्रसिद्ध हैं—भवनवासी देवोंके चालीस, व्यंतरोंके बत्तीस, ज्योतिषी देवोंके दो चंद्र व सूर्य, कल्पवासी देवोंके चौवीस, मानवोंमें चक्रवर्ती, पशुओंमें अष्टापद, ये सौ इन्द्र इनही पांच परमेष्ठियोंको नमस्कार करते हैं। इनमें अरहंत, सिद्ध परमात्मा हैं। आचार्य, उपाध्याय, साधु अंतरात्मा हैं या महात्मा हैं।

जो चार घातीय कर्मोंको शुक्लध्यान द्वारा नाश करके पूजने योग्य होजाते हैं उनको अरहन्त कहते हैं। इन कर्मोंके क्षयसे नौ लब्धियां या शक्तियां प्रकाशमान होजाती हैं। ज्ञानावरणके नाशसे

अनंत ज्ञान, दर्शनावरणके नाशसे अनंत दर्शन, मोहनीय कर्मके नाशसे क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक चारित्र, अंतराय कर्मके नाशसे अनंत दान, अनंत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग और अनंत वीर्य। आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघातीय कर्मोंके उदयसे जो अभी शरीरमें हैं उनको अरहंत कहते हैं। इनमें जो तीर्थंकर पदधारी महान पुण्यात्मा है उनके पुण्योदयकी विशेषतासे इन्द्रादि देव समवशरणकी रचना करके उनके महात्म्यका प्रकाश करते हैं। वे विशेष रूपसे विहार करके धर्मतीर्थका प्रचार करते हैं।

जो तीर्थंकर नहीं होते हैं, सामान्य पुरुष केवलज्ञानी अरहंत होते हैं उनकी गंधकुटी रची जाती है। सर्व ही अरहंत परमौदारिक शरीरधारी होते हैं। शरीरका परिवर्तन क्षीणमोह बारहवें गुणस्थानमें होजाता है। धातु उपधातु पककर कपूरके समान शुद्ध होजाती हैं। शरीर बहुत ही हलका होजाता है। जैसे रतनादि पाषाण रसायन द्वारा भस्म रूपमें बदल जाते हैं, वैसे ही शुक्ल ध्यानकी अग्निसे अस्थि, मांसादि सब शुद्ध पक रसरूप होजाते हैं। ऐसे शरीरके लिये अन्नादि व दूध आदि पदार्थोंके खानेकी आवश्यक्ता नहीं रहती है। अरहंत भगवानके मोहके नाश होनेसे मैं निर्बल हूं ऐसी न तो ग्लानि होती है न भोजन करनेकी इच्छा होती है।

वेदनीय कर्मका उदय मोहनीय कर्मकी सहायतासे सुख व दुःखका भाव पैदा करता है। मोहके क्षयसे क्षुधाकी वेदनाका कष्ट नहीं होता है न क्षुधा मेटनेसे तृप्तिका सुख होता है। अरहंतका आत्मा वीतराग व अनंत ज्ञानी होनेसे निरंतर स्वस्वरूपमें मगन

रहकर स्वात्मानन्दका निरंतर भोग करता है, फिर शरीरकी पुष्टि आहारक जातिकी नोकर्मवर्गणाओंके ग्रहणसे हो जाती है। अनंत लाभ लब्धिके प्रतापसे शरीरको पोषण देनेवाली अनंत ऐसी नोकर्म-वर्गणाएं शरीरमें प्रवेश करती हैं। जैसे वृक्षोंके लेपाहारसे पुष्टि होती है। योगशक्तिकी प्रबलतासे अरहंतके कर्मवर्गणाओंका व नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण अल्पज्ञानीकी अवस्थासे बहुत अधिक होता है इसीसे सिद्धांतमें नोकर्माहार केवलीको कहा गया है।

ऐसे शुद्ध परम शरीरधारी अरहंत इतने हलके होजाते हैं कि भूमिको स्पर्श नहीं करते हैं ऊपर रहते हैं। गंधकुटीमें विराजित अरहंत भव्यजीवोंके पुण्योदय वश व अपने नामकर्मके उदयवश दिव्यवाणीका प्रकाश करते हैं, जिससे तत्वोपदेश होता है। इसीलिये अरहंतको सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी तीन विशेषण हैं, यही कारण है जो णमोकार मन्त्रमें उनको प्रथम नमस्कार किया गया है। अरहन्तकी वाणी सुनकर मुनिगण ग्रन्थकी रचना करते हैं।

आप्तस्वरूप ग्रंथमें कहा है—

> नष्टाः क्षुत्तृड्भयस्वेदा नष्टं प्रत्येकबोधनम्।
> नष्टं भूमिगतस्पर्शं नष्टं चेन्द्रियजं सुखम्॥ १०॥
> नष्टा सदेहजा छाया नष्टा चेन्द्रियजा प्रभा।
> नष्टा सूर्यप्रभा तत्र सूतेऽनन्तचतुष्टये॥ ११॥
> तदा स्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः।
> जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्॥ १२॥

भावार्थ—श्री अरहन्तके भूख, प्यास व पसीना नहीं होता है, भिन्न२ एक एकको समझानेका काम नहीं होता है। वे भूमिको

स्पर्श नहीं करते हैं, उनके इन्द्रियोंके द्वारा सुख नहीं रहता है। उनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती है, इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाला ज्ञान नहीं रहता है, सूर्यका प्रकाश आवश्यक नहीं है। शरीरका तेज प्रकाशमान रहता है, अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य चार अनंत चतुष्टय प्रकट होजाते हैं तब उनका शरीर स्फटिक पाषाणके समान तेजमयी चमकता है। रागादि दोषोंसे रहित वीतरागीका शरीर अस्थि, मज्जा आदि सप्त धातुओंसे रहित शुद्ध होजाता है।

जिनके शेष चार अघातीय कर्म भी नाश होजाते हैं व जो ऊर्ध्वगमन स्वभावसे लोकाग्र बिराजते हैं, अंतिम शरीरके आकार आत्माका आकार रहता है, उनको सिद्ध कहते हैं।

पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्तिको पालनेवाले निर्ग्रंथ यतिको साधु कहते हैं। उनमें जो दीक्षा शिक्षा देते हैं उनको आचार्य, जो शिक्षा देते हैं उनको उपाध्याय, शेषको साधुपद है। ये तीनों आत्मध्यानी व मोक्षमार्गी हैं। व जगतको पथ प्रदर्शक हैं। अतएव अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, व साधु इन पांच पदोंको आत्मीक गुणोंके विकासकी अपेक्षा परमेष्ठी कहा गया है। इनके स्वरूपका ध्यान मोक्षार्थीको उपकारी है। क्योंकि उनकी आत्माएं अपने आत्मासे भिन्न हैं। अतएव इनको परतत्व कहा गया है। निज आत्माको स्वतत्व कहा गया है। पांच परमेष्ठीके भजनमें द्वैतभाव रहता है। मैं भक्त व वे भजनेयोग्य। निज आत्माके भीतर लय होनेसे अद्वैत भाव होजाता है। इसलिये स्वतत्व परतत्वकी अपेक्षा वीतरागता प्रकाशक है व उपादेय है।

पांच परमेष्ठीके ध्यानका फल ।

तेसिं अक्खररूवं भवियमणुस्साण झायमाणाणं ।
बुज्झइ पुण्णं बहुसो परंपराए हवे मोक्खो ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ-(भवियमणुस्साण) भव्य मनुष्योंके द्वारा (तेसिं अक्खररूवं) उनका अक्षर रूपसे (झायमाणाणं) ध्यान किये जाने पर (बहुसो) बहुत अधिक (पुण्णं) पुण्य कर्म (बज्झइ) बंधता है (परम्पराए) परम्परासे (मोक्खो हवइ) मोक्ष होता है ।

भावार्थ-यहां पर सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी भव्य जीवको लक्ष्यमें लेकर कहा गया है कि जब उसका मन इतना बलवान नहीं होता है कि अपने आत्मामें दीर्घकाल तक लयता पा सके तब वह अशुभ भावोंसे बचनेके लिये व पुनः शुद्धभाव व स्वानुभवको प्राप्त करनेके लिये पांच परमेष्ठियोंका जप व ध्यान उनके वाचक मंत्रोंके द्वारा करता है, जहां मंत्रोंको जोरसे व धीरेसे कह कह कर १०८ दफे व अधिक व कम अभ्यास किया जावे उसको जप कहते हैं। जब किसी मंत्रको मस्तक पर, भौंहके बीचमें नाककी नोकपर, हृदयमें, कंठमें आदि स्थलोंपर विराजमान करके उसमें चित्तको रोका जावे व कभी कभी पांच परमेष्ठियोंके सबके या एक किसीके गुणोंका मनन किया जावे उसको ध्यान कहते हैं।

क्योंकि उनके जप व ध्यानमें भाव शुभ राग सहित होते हैं। इससे बहुत अधिक सातावेदनीय आदि पुण्यकर्मका बंध होता है जिनमें स्थिति कम पडती है, परन्तु अनुभाग अधिक पडता है। सातावेदनीयके बंधके कारण भाव श्री तत्वार्थसूत्रमें कहे हैं—

भूतवृत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिशौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२

प्राणी मात्रपर दया, व्रती महात्माओंपर विशेष दया, आहारादि चार प्रकार दान, सराग साधु संयम, श्रावकका देश संयम, अकाम निर्जरा, अज्ञान तप, योग या समाधि, क्षमाभाव तथा शौचभाव ये सब सातावेदनीय कर्मके बन्धके कारण भाव हैं। वीतरागी केवलीके भी योगोंके द्वारा सातावेदनीय रूप कर्मोंका ईर्यापथ आस्रव होता है क्योंकि वहां पूर्ण समाधि व क्षमा व शौच भाव है। जितने अंश वीतरागता होती है पापकर्मोंका क्षय भी होता है। ध्यान करने व जपने योग्य मंत्र अनेक हैं। द्रव्यसंग्रहमें ऐसा कहा है—

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥ ५० ॥

भावार्थ—परमेष्ठी वाचक सात मन्त्र प्रसिद्ध हैं व गुरुके उपदेशसे और मन्त्र भी हो सक्ते हैं। ३५ अक्षरी—णमो हरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं। १६ अक्षरी—अर्हंतसिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः। छः अक्षरी-अरहन्तसिद्ध, ५ अक्षरी—असिआउसा, ४ अक्षरी—अहरन्त, २ अक्षरी-अर्हं, सिद्ध, ॐह्रीं, सोहं, १ अक्षरी—ॐ, श्रीं ह्रीं। पदस्थध्यानका स्वरूप श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थसे विशेष जानना योग्य है। विस्तारभयसे यहां नहीं लिखा है। पांच परमेष्ठीका ध्यानी अवश्य कभी न कभी मोक्ष प्राप्त करेगा। क्योंकि वह सम्यग्दृष्टी है। इस शुभ भावके ध्यानसे अवश्य शुद्धोपयोगमें पहुंचेगा, क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर कर्मोंका क्षय कर सिद्ध गति प्राप्त करेगा।

स्वतत्वके दो भेद ।

जं पुणु सगयं तच्चं सवियप्पं हवइ तह य अवियप्पं ।
सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(पुणु) फिर (जं) जो (सगयं तच्चं) स्वतत्व है वह (सवियप्पं) सविकल्प (तह य) तथा (अवियप्पं) अविकल्प (हवइ) होता है । (सवियप्पं) सविकल्प स्वतत्व (सासवयं) आस्रव सहित है (विगय संकप्पं) निर्विकल्प तत्व (णिरासवं) आस्रव रहित है ।

भावार्थ—अपने ही आत्माके ऊपर जहां लक्ष्य हो वहां स्वतत्व होता है । व्यवहारनयको गौण करके शुद्ध निश्चयनयसे जहां आत्माके स्वरूपका चिन्तवन किया जाय कि यह मेरा आत्मा ज्ञायक शुद्ध स्वभाव है । यह अबद्ध है, एक है, निश्चल है, अभेद सामान्य है, व रागादि रहित वीतराग है । इत्यादि विशेषणोंको लेकर भावना की जावे वह सविकल्प या भेदरूप विचार करनेवाला तत्व है । जहां भावना या विचार बन्द कर दिया जावे । आत्मा आपसे आपमें अपने ही द्वारा अपनेके लिये आपको ध्यावे । अर्थात् जैसे पानीमें लवणकी डली घुल जाती है, उसी तरह निज स्वभावमें उपयोगको मगन कर दिया जावे और स्वानुभव प्रगट होजावे या अद्वैतभाव होजावे वह निर्विकल्प तत्व है ।

इसमें साधकको स्वात्मानंद आत्मा है व यही वास्तवमें ध्यान या समाधि है, जो महान कर्मोंको जलाती है । यह स्वानुभव चतुर्थ, पंचम, छठे गुणस्थानोंमें बहुत अल्प होता है । सातवेंमें कुछ अधिक, आठवेंसे बराबर ऊपर बना रहता है । निरास्रव तत्व साक्षात् उप-

शांत मोह, क्षीण मोह, सयोगकेवली, अयोगकेवलीके होता है। क्योंकि वहां कषायोंका उदय नहीं है। तेरहवें सयोगकेवली तक जो साता वेदनीयका आस्रव है वह ईर्यापथ है, सांपरायिक नहीं है। चौथेसे दशवें गुणस्थान तक स्वानुभव दशामें गुणस्थानके नियमकी अपेक्षा आस्रव बन्ध होता है। परन्तु स्थिति व अनुभाग घातीय कर्मोंमें बहुत अल्प पड़ता है व अघातीयमें पुण्यकर्म बहुत बंधता है। निर्जरा अधिक होती है। इस हेतुसे निर्विकल्प तत्वको आस्रव रहित होनेका साक्षात् साधन है। जहां केवल आत्माके स्वरूपकी भावना है वहां शुभोपयोगकी मुख्यता है व उनसे कभी भी निरास्रव नहीं होता है। इस लिये उसको आस्रव सहित कहा है। ऐसा कह कर आचार्यने निर्विकल्पतत्वपर आरूढ़ होनेकी प्रेरणा की है। यही साक्षात् मोक्षका साधन है व परमानंदप्रद है। समयसार कलशमें कहा है—

समस्तमीत्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथाऽवलम्बे ॥३६-१०॥

भावार्थ—साधक जीव स्वानुभवमें जाना चाहता है तब शुद्ध-नयका सहारा लेकर यह दृढ संकल्प करता है कि मैं भूत, भावी, वर्तमानके समस्त कर्मोंसे भिन्न हूं, मोह रहित और निर्विकार चैतन्य मात्र आत्माके ही शरणमें जाता हूं। इस तरह भावना भाते भाते उन स्वरूपमें ठहर जाता है-स्वानुभव प्राप्त करलेता है। जैसे दूधके विलोनेसे मक्खन कभी कभी बनता है वैसे आत्माके शुद्ध स्वरूपकी भावना करते हुए स्वानुभव कभी कभी कुछ क्षणके लिये हो जाता है। स्वानुभवके समय शुद्ध नयका अवलम्बन भी छूट जाता है।

अविकल्प तत्व ।

इंदियविसयविरामे मणस्स णिल्लूरणं हवे जइया ।
तइया तं अविअप्पं ससरूवे अप्पणो तं तु ॥ ६ ॥
समणे णिच्चलभूये णट्ठे सव्वे वियप्पसंदोहे ।
थक्को सुद्धसहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ–(जइया) जब (इन्द्रियविसयविरामें) इन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छा बन्द हो जाती है (मणस्स णिल्लूरणं हवे) और मनका विचार नहीं रहता है–संकल्पविकल्प रूप मन उजड जाता है (तइया) तब (तं अवियप्पं) वह अविकल्प स्वतत्व प्रकट होता है (तु) और तब (अप्पणो ससरूवे) यह आत्मा अपने ही निज स्वभावमें हो जाता है। (समणे णिच्चलभूए) जब अपना मन निश्चल होता है (सव्वे वियप्प सन्दोहे णट्ठे) और सर्व भेदरूप विचारके विकल्प समूह नाश होजाते हैं। तब (अवियप्पो) विकल्प रहित अभेद (णिच्चलो) निश्चल–चंचलता रहित (णिच्चो) नित्य (सुद्ध सहावो) शुद्ध आत्माका स्वभाव (थक्को) ठहर जाता है।

भावार्थ–आत्माका उपयोग एक समयमें एक विषयपर जमता है। साधारण मानव निरन्तर पांच इन्द्रिय तथा मन इन छह द्वारोंके द्वारा उपयोगसे काम किया करता है। एक समयमें एक ही द्वारसे उपयोग जानता है, शीघ्र पलट कर दूसरे द्वार पर चला जाता है। इसही उपयोगको जब साधक इन छहों द्वारोंमें जाना रोकदे और इस उपयोगके उपयोगवान अपने आत्मामें जमादे तबही अविकल्प

तत्वमय आप होजाता है। आत्मा स्वभावसे निर्विकल्प है ही, आप स्वभावमें है ही।

मोहकर्मोंके उदयसे यह पर पदार्थका चिन्तवन करता है, राग-द्वेष पैदा करता है। कभी स्पर्श करनेकी कभी स्वाद लेनेकी कभी सूंघनेकी कभी देखनेकी कभी सुननेकी इच्छा करता है। कभी इच्छा-नुकूल विषय भोग मिलनेपर इन्द्रियोंको उनके भोगमें जोड़ देता है. कभी मनसे विचार करता है—मैंने ऐसे भोग भोगे, मैं ऐसे भोग भोगूंगा, भोग योग्य पदार्थ किस तरह प्राप्त हो, कभी भोग्य पदार्थके वियोग होनेपर या बिगड़ जानेपर भयसे शोच करता है, कभी विष-योंमें सहायक मित्रोंसे प्रीति, कभी बाधक शत्रुओंसे द्वेष करता है, शत्रुओंके विनाशका उपाय विचारता है, प्राप्त भोगोंके बने रहनेका उपाय विचारता है। दिनरात स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्यादि भोग-सामग्रीके सम्बन्धमें इन्द्रिय और मनको लगाए रहता है।

इस तरह इसको कभी अपने आत्माके निकट आकर विश्राम करनेका अवसर नहीं मिलता है। अतएव साधकको उचित है कि वह इन्द्रिय सुखका अत्यन्त अरुचिवान हो श्रद्धामें कांक्षा रहित होजावे, अतीन्द्रिय आत्मीक सुखका रुचिवान होजावे। इन्द्रियोंके भोगोंकी उदासीनताका श्रद्धान ही उपयोगको उनसे विरक्त होनेका अवसर देस-केगा, फिर मनके भीतरसे संसार, शरीर व भोग सम्बन्धी रागको हटावे, इनसे वैराग्यवान होजावे, फिर मनमें शुद्ध नयके द्वारा आत्माके शुद्ध स्वभावका मनन करे। इस मननके द्वारा यकायक उपयोग अपने आत्मामें स्थिर हो जायगा, तब न वहां इन्द्रियोंके विषयोंका

ध्यान है न मनके भीतर कोई संकल्प विकल्प है। उस समय इन्द्रियें अपने आकारको रखती हुई भी भावइन्द्रियके विना व्यर्थ होजाती हैं। द्रव्य मन रहनेपर भी भाव मनका काम बन्द हो जाता है, केवल उपयोगमें आत्मा ही रह जाता है।

आत्मा स्वभावसे अभेद, ज्ञायक, निश्चल, नित्य, शुद्ध, वीतराग है। परसंयोग रहित है, एक है। ऐसा ही अनुभवमें आता है। यह विचार भी मनका काम है कि आत्मा ऐसा है, यह विचार भी स्वानुभवमें नहीं रहता है। आत्मा आत्मामें ऐसा थिर होजाता है मानो साधक साध्यका, ध्याता ध्येयका, ज्ञाता ज्ञेयका सब द्वैतभाव जाता रहता है। एक अद्वैतभाव होजाता है, जो मन व वचनसे अगोचर है। यही अविकल्प तत्व है। आत्माकी ज्ञान परिणति अपने स्वामी आत्माका भोग करती हुई शीलवान व ब्रह्मचारिणी है। जब यह परिणति अपने स्वामीको छोड़कर जगतके पदार्थोंके भोगोंमें भ्रमण करती है तब इसे व्यभिचारिणी या कुशीली कहते हैं। अतएव आत्मपरिणतिको व्यभिचारसे रोककर शीलवान रखना ही अविकल्प तत्वरूप रहना है। जैसा आत्मा द्रव्यका परसंयोग रहित मूल स्वभाव है उसका उसी रूप स्वसंवेदन होना अविकल्प तत्वका लाभ है। इन्द्रिय और मनके वश होते ही यह स्वयं झलक जाता है।

समाधिशतकमें पूज्यपादस्वामी कहते हैं—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना ।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्वं परमात्मनः ॥ ३० ॥
रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः ॥ ३५ ॥

भावार्थ-सर्व इन्द्रियोंको रोककर व अंतरङ्ग आत्माद्वारा थिर होकर जिस समय भीतर देखा जाता है तो वहां शुद्धात्माका स्वरूप झलक जाता है जिसका मनरूपी जल रागद्वेषादिकी तरंगोंसे डवां-डोल नहीं है। वही आत्माके तत्वको अनुभव करता है, दूसरा प्राणी नहीं कर सक्ता है।

अविकल्प तत्वका अनुभव ज्ञानचेतना है।

जो खलु सुद्धो भावो सा अप्पणितं च दंसणं णाणं।
चरणंपि तं च भणियं सा सुद्धा चेयणा अहवा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ-(खलु) निश्चयसे (जो सुद्धो भावो) जो आत्माका शुद्ध वीतराग भाव है (सा अप्पणितं) वह भाव आत्मामें ही तन्मय रूप है (तं च) उसे ही (दंसणं च णाणं चरणंपि भणियं) भाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी एकता भी कहते हैं। (अहवा) अथवा (सा सुद्धा चेयणा) वही भाव शुद्ध ज्ञानचेतना है।

भावार्थ-जब अविकल्प भेद रहित सामान्य एकाकार अपने आत्माके स्वभावमें शुद्ध नयके द्वारा आत्माके स्वरूपकी भावना करते करते थिरता प्राप्त होजाती है तब उसे ही आत्मीक भाव या स्वानुभव कहते हैं। इसी स्वानुभवके क्षणमें ही साक्षात् निश्चय मोक्षमार्ग है। क्योंकि उस समय प्रचुर कर्मोंका संवर है व बहुत कर्मोंकी निर्जरा है। मैं शुद्धात्मा हूं, यही प्रतीति सम्यग्दर्शन है। मैं शुद्धात्मा हूं, यही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, मैं शुद्धात्मा हूं, इस भावमें थिरता सम्यक्चारित्र है। उसी स्वानुभवके समय अपने शुद्ध

ज्ञानका वेदना है। इसलिये ज्ञानचेतना है। कर्मचेतना व कर्मफल-चेतना नहीं है। न वहां रागद्वेषमई कर्म करनेका अनुभव है न वहां सांसारिक सुख व दुःखका अनुभव है। इस स्वसंवेदन रूप स्वानुभवके भीतर अपनेही आत्माका उपभोग है। जिससे आत्मीक सुखका लाभ होता है। इष्टोपदेशमें श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः॥ ४७॥

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतं।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः॥ ४८॥

भावार्थ-जो योगी व्यवहारसे बाहर जाकर केवल अभेद एक-रूप अपने आत्माके स्वरूपमें ठहर जाता है, उस योगीको स्वात्म ध्यानके बलसे कोई अद्भुत परमानंद प्राप्त होता है। यही आनंदका अनुभव वीतरागमई ध्यानकी अग्नि है, जो निरन्तर जलती हुई बहुत अधिक कर्मोंके ईंधनको जलाती है। उस समय बाहरी परी-षह या उपसर्ग भी पड़े तो वह ध्यानमग्न योगी अनुभव नहीं करता है तब उसे कोई क्लेश नहीं होता है। अतएव अविकल्प स्वतत्व ही सार है, उपादेय है, प्राप्त करनेके योग्य है।

अविकल्प स्वतत्वका लाभ कैसे हो।

जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च।
तं णाऊण विसुद्धं झायह होऊण णिग्गंथो॥ ९॥

अन्वयार्थ-(जं अवियप्पं तच्चं) जो यह अविकल्प स्वतत्व है

(तं सारं) वही सार है। (तं च मोक्खकारणं) वही मोक्षका मार्ग है (तं विसुद्धं णाऊण) उस शुद्ध तत्वको भलेप्रकार जानकर (णिग्गंथो होऊण) निर्ग्रंथ होकर (झायह) ध्यान करो।

भावार्थ—स्वानुभवमें ही भेद रहित निर्विकल्प तत्वका प्रकाश रहता है। सर्व सिद्धांतका यही सार है, निचोड़ है। जैसे वृक्षका रस होता है, फलका गूदा होता है, पुष्पका अतर होता है, वैसे ही यह स्वानुभव सर्व शास्त्रोंका सर्वोत्तम तत्व है, यही मोक्षमार्ग है जिससे बहुत अधिक कर्मोंकी निर्जरा हो व आस्रव थोड़ा हो। वही वह उपाय है जिससे एक दिन यह आत्मा सर्व कर्मोंसे छूट सकेगा। इस तत्वको जाननेका उपाय शुद्ध निश्चयनयका आलम्बन है।

इस दृष्टिसे अपने ही आत्माको सदा ही एक द्रव्य रूप परम शुद्ध निर्विकार देखा जाता है। व्यवहार दृष्टिमें जो भेद रूप या अशुद्ध अवस्था दीखती थी सो नहीं दीखती है। ध्यान करनेवालेको निराकुल होनेकी आवश्यक्ता है, गृह जंजालके त्यागनेकी आवश्यक्ता है, प्राकृतिक या स्वाभाविक रूपमें रहनेकी आवश्यक्ता है, शरीरमें सहनशक्तिके होनेकी आवश्यक्ता है। इसीलिये यह कहा है जो अविकल्प तत्वका लाभ करना चाहे उसको निर्ग्रंथ होना चाहिये, सर्व परिग्रहका त्याग करना चाहिये, ममतारहित होना चाहिये, चिंताओंसे रहित होना चाहिये, नग्न दिगम्बर साधु होना चाहिये। जहांतक गृहस्थकी चिंता है वहांतक मन गृह—सम्बन्धी कार्योंकी चिन्तासे मुक्त नहीं होसक्ता। इसीलिये गृहस्थीके मोक्षमार्ग परिपूर्ण नहीं होता। वह एकदेश चारित्र पालकर एकदेश स्वानुभव प्राप्त कर सक्ता है,

परन्तु सर्वदेश स्वानुभवकी तरफ उन्नति निर्ग्रंथ पदसे ही होगी ॥ निर्ग्रंथ दिगम्बर जैन नग्न मुनिको कहते हैं । यह बात प्रसिद्ध है ।

The Standard Sanskrit English Dictionary by L. R. Vaidya B. A. L L. B. (Bombay 1910) में पृष्ठ ३८४ पर निर्ग्रंथ शब्दके अर्थ दिये हैं–possessionless, a devotee who has withdrawn from the world and wander about naked, a naked minor cant, a Jain mendicant of the Digamber order.

अर्थात् जिसके पास सम्पत्ति या परिग्रह न हो । संसारत्यागी साधु जो नग्न विहार करता है। दिगम्बर जैन साधु । समयसारजीमें श्री कुंदकुंदाचार्य कहते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं, तं सुद्ध णयं विजाणीहि ॥ १६ ॥

भावार्थ–जो आत्माको कर्मोंसे अबद्ध व अस्पृश्य, एकरूप, निश्चल, अभेदरूप व रागादि संयोग रहित देखता है वह शुद्धनय है । शुद्धनयके द्वारा विचारते हुए जब अभेद आत्म तत्व अनुभवमें आजाता है तब शुद्ध नयका भी प्रयोजन नहीं रहता है ।

निर्ग्रन्थ स्वरूप ।

बहिरब्भंतरगंथा मुक्का जेणेह तिविहजोएण ।
सो णिग्गंथो भणिओ जिणलिंगसमासिओ सवणो ॥१०॥

अन्वयार्थ–(इह) इस लोकमें (जेण) जिसने (तिविह-जोएण) मन, वचन, काय तीनों योगोंसे (बहिरब्भंतरगंथा) बाहरी

और भीतरी परिग्रहोंको (मुक्का) त्याग दिया हो (सो) वह (जिण-लिंगसमासिओ) जिनेन्द्रके भेषको धारनेवाला (सवणो) श्रमण या मुनि (णिग्गंथो) निर्ग्रंथ (भणिओ) कहा गया है ।

भावार्थ-श्री ऋषभादि महावीर पर्यंत चौवीस तीर्थंकरोंने जिस लिंग या भेषको धारण करके धर्मध्यान व शुक्लध्यानको साध कर आत्माको शुद्ध किया वही भेष या जिन लिंग मोक्षका साधक है। साधुपदमें अहिंसादि पांच महाव्रत धारण करना योग्य है। इसलिये सर्व लौकिक गृहारम्भको व परिग्रहको त्यागनेकी आवश्यक्ता है। ये परिग्रह बाहरी दश प्रकार हैं, भीतरी चौदह प्रकार हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥ ११६ ॥
अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ ।
नैषः कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसां ॥ ११७ ॥
उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥ ११८ ॥

भावार्थ-१ मिथ्यात्व, २ क्रोध, ३ मान, ४ माया, ५ लोभ, ६ हास्य, ७ रति, ८ अरति, ९ शोक, १० भय, ११ जुगुप्सा, १२ स्त्रीवेद, १३ पुंवेद, १४ नपुंसकवेद, ये बाहरी परिग्रह या ग्रन्थ हैं या गांठ हैं। इनसे बिलकुल मूर्छा छोड़ना चाहिये। तथा १ क्षेत्र, २ वास्तु (मकान), ३ हिरण्य, ४ सुवर्ण, ५ दासी, ६ दास, ७ धन, (गायादि), ८ धान्य, ९ कुप्य (वस्त्र), १० भांड (वर्तन) ये १० प्रकारकी सचित्त व अचित्त बाहरी ग्रन्थ या गांठ हैं

जिनके निमित्तसे मूर्छा होती है। जबतक अभ्यंतर और बाह्य दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग नहीं होगा तबतक हिंसाका पूर्ण त्याग नहीं होगा। जिन प्रवचनके ज्ञाता आचार्योंका यही कथन है कि दो प्रकारके परिग्रहका जहां सम्बन्ध है वहां हिंसा छूट नहीं सक्ती है। इसलिये इनका त्याग अहिंसा है, उनका धारण करना हिंसा है।

जहांतक वस्त्रके त्याग करनेकी योग्यता परिणामोंमें व शरीरमें न हो वहांतक श्रावक लिंगमें रहकर अर्थात् ग्यारह प्रतिमाओं द्वारा अंतिम श्रावकलिंग क्षुल्लक या ऐलक होकर ध्यानका अभ्यास करना योग्य है। जो महान वीरपुरुष क्षुधा तृषा, शीत उष्ण, दंशमसक आदि बाईस परीषहोंको निष्कंप भावसे सहन कर सक्ते हैं वे ही इस निर्ग्रंथ पदके अधिकारी हैं।

ध्यानी योगी।

लाहालाहे सरिसो सुहदुक्खे तहय जीविए मरणे।
बंधो अरयसमाणो झाणसमत्थो हु सो जोई॥ ११॥

अन्वयार्थ—(लाहालाहे) जो लाभ तथा अलाभमें (सुहदुक्खं) सुख तथा दुखमें (तहय) तैसे ही (जीविए मरणे) जीवन तथा मरणमें (समाणो) समान भाव रखता है व (बंधो अरय समाणो) बन्धु और मित्रमें समभावधारी हैं (सो जोई) वही योगी (झाणसमत्थो) ध्यान करनेकी शक्ति रखता है।

भावार्थ—समभाव ही चारित्र है। ऐसा श्री प्रवचनसारमें कुंदकुंदजी महाराजने कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥ ७ ॥

भावार्थ–चारित्र ही धर्म है, समभावको ही धर्म कहा गया है। मोह व क्षोभ रहित आत्माका परिणाम समभाव है। मोक्षमार्ग साधक साधुको ऐसा विजयी वीर होना योग्य है कि वह विषय कषायोंको भले प्रकार वश रखे। पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका भाव सहित जीतनेवाला हो। जो जितेन्द्रिय होगा वही आत्मानन्दका गाढ़ प्रेमी होगा। क्रोधादि कषायोंके आधीन न हो। निमित्त मिलनेपर भी उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, धर्मका पालक हो, लाभ अलाभमें, सुख दुःखमें, शत्रु मित्रमें, सुवर्ण तृणमें, मान व अपमानमें समभाव तब ही रह सक्ता है जब वह पाप पुण्य कर्मके उदयमें अपनी ही करणीका फल जानकर उसी तरहसे विकार रहित हो। जैसे धूप या छाया पड़नेपर बुद्धिमान सूर्यकी गतिका स्वभाव जानकर समभाव रखता है।

निन्दा करनेवालेपर रोष नहीं, प्रशंसा करनेवालेपर संतोष नहीं करे। ध्यानके योग्य योगी जब व्यवहारनयको जानकर निश्चयनयसे मुख्यतासे काम लेते हैं। इस नयसे छः द्रव्योंकी पर्यायें नहीं दीखती हैं। किंतु छः द्रव्य अपने स्वाभाविक द्रव्य रूपमें दिखते हैं। सर्व पुद्गल परमाणुरूप सर्व जीव परम शुद्ध निर्विकार दिखते हैं। समभाव प्राप्तिका उपाय निश्चयनयसे विश्वका अवलोकन करना है। योगीको विपाकविचय धर्मध्यानपर भी दृष्टि रखनी योग्य है। अपनेको साताकारी व असाताकारी सम्बन्ध मिलनेपर व दूसरोंके

साता व असाताकारी संयोग देखकर कर्मोंके उदयके भेदका विचारकर समभाव रखना चाहिये। समभावमें ही सम्यक्चारित्र या वीतराग विज्ञानमई धर्मका लाभ होता है। इस भावमें ही कषायोंके अनुभागकी अत्यन्त मंदता है, यही भाव कर्मकी निर्जराका व संवरका कारण है। जबतक समभावकी योग्यता न हो तबतक निर्ग्रंथ पदको धारण करना योग्य नहीं है।

मोक्षके लिये सामग्री।

कालाइलद्धि णियडा जह जह संभवइ भव्वपुरिसस्स।
तह तह जायइ णूणं सुसव्वसामग्गिमोक्खट्ठं॥१२॥

अन्वयार्थ—(भव्वपुरिसस्स) भव्य पुरुषको (जह जह) जैसे जैसे (कालाइलद्धि) काल आदि लब्धियां (णियडा) निकट (संभवइ) आती जाती हैं (तह तह) वैसे वैसे (मोक्खट्ठं) मोक्षके लिये (सुसव्व सामग्गि) उत्तम सर्व सामग्री (णूणं) निश्चयसे (जायइ) उत्पन्न होती जाती है।

भावार्थ—भव्य पुरुष ही मोक्षका साधन करके उस भवसे मोक्ष प्राप्त कर सक्ता है। स्त्रीके शरीरमें वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं होता है व अन्य भी ध्यानके योग्य शरीरकी रचनामें अंतर होता है। शरीरका बल वीर्य ध्यानकी थिरताका कारण है। दूसरे भी साताकारी संयोग तीव्र पुण्यके उदय विना प्राप्त नहीं होते। मोक्षके लिये सबसे पहले तो सम्यक्तकी प्राप्ति होनी चाहिये। सर्वज्ञके ज्ञानकी अपेक्षा जबतक अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनसे अधिक काल मोक्ष जानेमें होगा तबतक

सम्यक्त नहीं होगा। इस कालकी निकटता प्राप्त होनी ही प्रथम काललब्धि है। फिर क्षयोपशम लब्धिमें पंचेंद्रिय सैनी, बुद्धिमान, दुःखोंकी कमी रखता हुआ प्राणी होना चाहिये।

फिर मन्द कषायसे विशुद्ध लब्धि होती है, फिर जिनवाणीकी गाढ़ रुचिरूप देशनालब्धि, फिर परिणामोंकी विशुद्धतारूप प्रायोग्य-लब्धि, फिर अनन्तगुणे परिणामोंकी विशुद्धिको समय समय बढ़ाने-वाले करणलब्धिके परिणाम अंतर्मुहूर्त तक होते हैं। जब सम्यग्दर्शनका लाभ होता है तब स्वानुभव करनेकी लब्धि प्राप्त हो जाती है, ज्ञान वैराग्यकी लब्धि होजाती है; प्रशम, संवेग, अनुकम्पा आस्तिक्य भाव पैदा होजाते हैं। सम्यक्त होनेके पीछे पापकर्मका कम अनुभाग रूप बन्ध व पुण्यका विशेष तीव्र अनुभाग लिये बन्ध होता रहता है। इससे साताकारी सामग्री देवगति व मनुष्यगतिमें प्राप्त होती रहती है। सम्यक्ती देव व मनुष्य आयु ही बांधता है, उत्तम देव व उत्तम-कुली साताकारी सम्बन्ध रखनेवाला मनुष्य होता है। ऐसे संयोग मिलते हैं जिससे देश चारित्र व सकल चारित्र पाल सक्ता है। सम्यक्तीके मोक्षप्राप्तिकी दृढ़ भावना पैदा हो जाती है। इसलिये धीरे धीरे सर्व योग्य सामग्री मिलती जाती है।

जब वज्रवृषभनाराच संहनन होता है व संज्वलन कषायके मंद उदयसे तीव्र वैराग्य होता है तब भव्यपुरुष मोक्षमार्गका पूर्ण साधन करके अष्ट कर्मोंकी निर्जरा करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह है कि मानव जन्ममें जैन धर्मका समागम मिलना बड़ा दुर्लभ है। हमें दुर्लभ संयोगको पाकर प्रमादी न होना चाहिये।

मोक्ष पुरुषार्थमें सावधान रहना चाहिये। सारसमुच्चयमें कुलभद्राचार्य कहते हैं:—

उत्तमे जन्मनि प्राप्ते चारित्रं कुरु यत्नतः ।
सद्धर्मे च परां भक्तिं शमे च परमां रतिम् ॥ ४७ ॥

भावार्थ—उत्तम नरजन्म पाकर यत्नपूर्वक चारित्रको पालो, सच्चे धर्ममें तीव्र भक्ति करो तथा शान्त भावमें गाढ़ आसक्ति रक्खो।

ध्यानका पुरुषार्थ आवश्यक है।

चलणरहिओ मणुस्सो जह इच्छइ मेरुसिहरमारुहिउं ।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू ॥ १२ ॥

भावार्थ—(जह) जैसे (चलण रहिओ) आलसी नहीं चलनेवाला (मणुस्सो) मनुष्य (मेरु सिहर) मेरु पर्वतके शिखरपर (आरुहिउं) चढ़ना। (इच्छइ) चाहता है। (तह) वैसे ही (झाणेण विहीणो) ध्यान न करनेवाला (साहू) साधु (कम्मक्खयं) कर्मोंका क्षय (इच्छइ) चाहता है।

भावार्थ—जो साधु या अन्य कोई मानव ज्ञानभावसे संतोष मान ले और ध्यान करे उसको शिक्षा दी है कि आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर भी जबतक रागद्वेष छोड़कर आत्मध्यान या स्वानुभवका अभ्यास न किया जायगा तब तक वह वीतरागता न पैदा होगी जो कर्मोंको नष्ट करती है। साधुपदको पाकर प्रमाद रहित होकर धर्मध्यानका अभ्यास करके कषायोंको मन्द कर जो क्षपकश्रेणी चढ़ेगा और शुक्लध्यान जगावेगा वही घातीय कर्मोंका क्षय

करके अर्हंत परमात्मा हो जायगा। जैसे कोई मानव मेरु पर्वतके शिखरपर पहुँचना चाहे परन्तु एक पग भी चले नहीं तो वह कभी मेरु शिखरपर नहीं पहुंच सकेगा। ऐसे ही जो कोई इसीसे संतोष मानले कि मैंने आत्माको कर्मसे भिन्न पहचान लिया है और वह विषय कषायोंमें लगा रहे, परिग्रह छोड़कर निर्मल आत्मध्यानका साधन न करे तो वह कर्मोंसे मुक्ति चाहनेपर भी कभी मुक्ति लाभ नहीं कर सकेगा।

सम्यक्चारित्रके विना कर्मोंका नाश नहीं होसक्ता है। आत्मानंदका लाभ, आत्मवीर्यकी प्रगटता व कर्मका क्षय इन तीनों हेतुओंको ध्यानमें लेकर हरएक जिनभक्त तत्वज्ञानीका कर्तव्य है कि वह आत्मध्यानका अभ्यास करे। गृहस्थको भी प्रातः, मध्यान्ह, सायंकाल या दो या एकदफे एकांतमें बैठकर आत्मध्यानका अभ्यास करना चाहिये तब ही सत्य, मोक्षमार्ग प्राप्त होगा। श्रीद्रव्यसंग्रहमें कहा है—

दुविहंपि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणे समब्भसह ॥

भावार्थ—निश्चय व्यवहार दोनोंही मोक्षमार्गोंका लाभ मुनिको आत्माके ध्यानमें होजाता है यह नियम है, इसलिये तुम सब प्रयत्न करके ध्यानका भले प्रकार अभ्यास करो।

प्रमादी मानव कभी भी मोक्षमार्गी नहीं होसक्ता। जो पुरुषार्थ करेगा, आत्माके शुद्ध स्वरूपकी भावना भाएगा, आत्मध्यानको पाएगा वही वीतराग होकर संवर व निर्जरा तत्वको पाकर कर्मका क्षय कर सकेगा।

प्रमादी मानवोंका वचन ।

संकाकंखागहिया विसयवसत्था सुमग्गयठभट्टा ।
एवं भणंति केई णहु कालो होइ झाणस्स ॥ १४ ॥

भावार्थ-(केई) कितने ही (संकाकंखा गहिया) शंकाशील व विषयसुखके प्रेमी (विसय पसत्था) विषयोंके भोगमें आसक्त, विषय-भोगमें अपना हित माननेवाले (सुमग्गयठभट्टा) सुमार्ग जो रत्नत्रय-मई धर्म है उससे भ्रष्ट (एवं) इसप्रकार (भणंति) कहते हैं (झाणस्स कालो णहु होई) कि यह आत्मध्यान करनेका काल ही नहीं है।

भावार्थ-कितने ही मानव केवल शास्त्रोंको जानकरके व चर्चा वार्ता करके ही संतोष मान बैठते हैं, आत्मध्यान करनेका पुरुषार्थ नहीं करते हैं। जब कोई कहता है कि आप आत्मध्यान क्यों नहीं करते तब ऐसा कह देते हैं कि यह दुखमा पंचमकाल है, इसमें मोक्ष नहीं होसक्ता है अतएव ध्यान नहीं बनसक्ता है। ऐसे कहनेवाले प्रमादी मानव वैसे ही हैं जिनको पूर्ण श्रद्धान रत्नत्रयमई धर्मका नहीं हुआ है, जिनके भीतर आत्मा तथा परमात्माके अस्तित्वमें ही भीतरसे शंका है, या जिनके भीतरसे विषयसुखकी कांक्षा या तृष्णा नहीं मिटी है, जो आत्मसुखकी श्रद्धा नहीं रखते हैं, विषय सुखको ही ग्रहणयोग्य माने हुए हैं तथा जो विषयभोगोंकी सुन्दर सामग्री एकत्र करते रहते हैं व विषयभोगोंमें खाने पहरने आदिमें लीन रहते हैं।

वास्तवमें ऐसे मानव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई मोक्षमार्गसे भ्रष्ट हैं। ऊपरसे अपनेको धर्मात्मा मान बैठते हैं या हम तत्वज्ञानी हैं ऐसा अहंकार रखते हैं, परन्तु वे वास्तवमें तत्वज्ञानसे शून्य केवल

विषयासक्त प्रमादी हैं। जिनको सम्यग्दर्शनका लाभ होगा वह सदा ही स्वानुभवका प्रेमी रहेगा। और गृहस्थावस्थामें भी जब अवसर मिलेगा तब स्वानुभवके लाभके लिये आत्माका ध्यान करेगा। इस कालमें भी इस कालके योग्य ध्यान होसक्ता है। प्रमाद कार्यकी सिद्धिका विरोधी है। विषयभोगोंकी आसक्ति ध्यानमें बाधक है। जो सच्चा सम्यक्ती होगा वह निःशंकित व निःकांक्षित प्रेमका पालनेवाला होगा। वह आत्माकी प्रभावना करनेका उद्योगी होगा। अतएव वह कभी ऐसा वचन कह कर अपनेको व दूसरोंको धोखा नहीं देगा।

तत्वानुशासनमें श्री नागसेन मुनिने कहा है-

येऽत्र हुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति।

तेऽर्हन्मतानभिज्ञत्वं ख्यापयंत्यात्मनः स्वयं ॥ ८२ ॥

भावार्थ-जो ऐसा कहते हैं कि यह काल ध्यान करने योग्य नहीं है वे अपने कथनसे प्रगट करते हैं कि वे श्री जिनेन्द्रके मतको नहीं जानते हैं।

धर्मध्यान होसक्ता है।

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोयं।

तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं ॥१५॥

अन्वयार्थ-(अज्जवि) आज भी इस पंचमकालमें (तिरयणवंता) मध्यलोकवासी मानव (अप्पा) आत्माको (झाऊण) ध्याय कर (सुरलोयं) स्वर्गलोकको (जंति) जासक्ते हैं (तत्थ) वहांसे (चुया) च्युत हो

(मणुयत्ते) मानव जन्ममें (उप्पज्जिय) उत्पन्न होकर (णिव्वाणं) निर्वाणको (लहहि) पा सक्ते हैं ।

भावार्थ–इस पञ्चमकालमें तीन शुभ संहनन नहीं हैं । अर्थात् मानवोंकी हड्डी वज्रवृषभ नाराच, वज्र नाराच, नाराच संहनन रूप नहीं हैं । तीन उत्तम संहननधारी ही उपशम श्रेणीपर चढ़कर आठमें गुणस्थान पर जा सक्ते हैं । आजकल तीन हीन संहनन हैं । इसलिये सातमा गुणस्थान तक संभव है । अप्रमत्त गुणस्थान तक पूर्ण धर्मध्यान है । आगे शुक्ल ध्यान है, सो नहीं है । धर्म्मध्यानमें आत्माका ध्यान भले प्रकार किया जा सक्ता हैं । चौथें अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानसे धर्मध्यान या आत्मध्यान हो सक्ता है । इस धर्मध्यानमें शुभोपयोग मंद कषायके उदयसे गर्भित है । इससे विशेष पुण्यका बंध हो सक्ता है । और यह जीव स्वर्गमें उत्तम देव हो सक्ता है । वहांसे चौथे कालमें उत्पन्न होकर मानवभावसे तप साधन कर कर्मका क्षय कर निर्वाणका लाभ कर सक्ता है ।

इसलिये आज भी परम्परा निर्वाणका भाजन वही होगा जो निश्चिन्त होकर आत्मध्यानका अभ्यास करेगा । अतएव प्रमादको दूर कर निर्विकल्प तत्व जो निज शुद्ध आत्मा है उसको शुद्ध निश्चय नयके द्वारा लक्ष्यमें लेकर उपयोगको भावनाके द्वारा थिर करनेका या स्वानुभवके लाभका यत्न करना जरूरी है । जिससे स्वात्मानंदका लाभ हो सके । सम्यक्ती कभी भी प्रमादी नहीं होता है, वह सदा निज सुखके स्वादका प्रयत्न करता रहता है । श्री नागसेन मुनि भी कहते हैं:—

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्त्तिनां ॥ ८३ ॥
यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेण्यो ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकं ॥ ८४ ॥
ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्यश्रुतसागरपारगाः।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः ॥ ८५ ॥
चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य संप्रति।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ॥ ८६ ॥
सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतं।
धारणासौष्ठवाद्ध्यानं प्रत्ययानपि पश्यति ॥ ८७ ॥
यथाऽभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्त्तिनां ॥ ८८ ॥

भावार्थ—श्री जिनेंद्रोंने इस पंचम कालमें यहां केवल शुक्ल ध्यानका अभाव बताया है। उपशम क्षपक श्रेणियोंके नीचे रहनेवालोंको धर्मध्यानका होना निषेध नहीं किया है। वज्र कायधारियोंको ध्यान होता है, ऐसा आगममें कहा है। वह वज्र कायधारियोंकी अपेक्षासे कहा है। नीचेके तीन संहननवालोंकी अपेक्षासे नहीं कहा है। यद्यपि आजकल श्रुतकेवली समान आत्माके ध्याता मुनि नहीं हो सकते, तो भी क्या अल्प श्रुतके ज्ञाताओंको अपनी शक्तिके अनुसार ध्यान न करना चाहिये? अवश्य ही करना चाहिये।

यद्यपि आजकल यथाख्यात चारित्रके आचरण करनेवाले नहीं हो सकते, तो क्या दूसरे तपस्वियोंको यथाशक्ति चारित्र नहीं पालना चाहिये? अवश्य पालना चाहिये। जो कोई साधक भले प्रकार

गुरुके उपदेशसे भले प्रकार आत्मध्यानका अभ्यास निरन्तर करता रहेगा और उसकी धारणा उत्तम होजायगी तो वह अनेक चमत्कारोंको भी देख सकेगा।

जैसे बड़े बड़े शास्त्र भी अभ्यासके बलसे बुद्धिमें समझे जाते हैं वैसे ही अभ्यास करनेवालोंका ध्यान भी स्थिर होजाता है।

इसलिये पुरुषार्थ करके आत्मध्यानका अभ्यास निरन्तर करना योग्य है।

आत्मध्यानकी प्रेरणा।

तम्हा अब्भसउ सया मुत्तूणं रायदोसवामोहो।
झायउ णियअप्पाणं जइ इच्छइ सासये सुक्खं ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ-(तम्हा) इस लिये (जइ) यदि (सासयं) अविनाशी व अतीन्द्रिय (सुक्खं) सुखको (इच्छइ) चाहते हो तो (रायदोसवामोहो) रागद्वेष मोहको (मुत्तूणं) छोड़कर (सया) सदा (अब्भसउ) अभ्यास करो (णियं अप्पाणं) अपने ही आत्माको (झायउ) ध्याओ।

भावार्थ-इस कालमें भले प्रकार धर्मध्यान होसक्ता है ऐसा निश्चय करके हरएक श्रद्धावान गृहस्थ या साधुको, नर या नारीको उचित है कि अपने ही आत्माके भीतर विराजमान जो सच्चा आत्मिक अविनाशी सुख है उसका स्वाद लेनेका उत्साह करें। परम धर्मानुरागी होकर अपने ही शुद्धात्मको और उपयोगको स्थिर करनेका या स्वानुभव करनेका अभ्यास करें। आत्माके ध्यानकी प्राप्तिके लिये

ज्ञान व वैराग्यकी जरूरत है। आत्मा व अनात्माका सच्चा भेद विज्ञान होना यह सम्यग्ज्ञान होना चाहिये कि मैं आत्म द्रव्य हूं, सबसे भिन्न एकाकी हूं, अपने ज्ञान आनंद आदि गुणोंका अखंड पिंड हूं।

रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नोकर्मसे मैं भिन्न हूं, सिद्धके समान शुद्ध हूं। वैराग्य यह होना चाहिये कि मुझे सिवाय निर्वाणके और किसी क्षणिक पदकी, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदकी लालसा नहीं है। संसार शरीर भोगोंसे पूर्ण वैराग्यभाव होना चाहिये। जब परको पर जान लिया तब परसे ज्ञानीको राग कैसे हो सक्ता है? ज्ञानी निज आत्माके दुर्गको ही अपना निवासस्थान व उत्तम ठिकाना जानता है। यह ज्ञान वैराग्य गृहस्थ अविरत सम्यक्तीको भी होता है। वह घरमें जल कमलके समान अलिप्त रहता है। कषायोंके उदयको रोग जानकर आत्मबलकी कमीसे गृहस्थके न्यायपूर्वक भोगोंको भोगता है, परन्तु लक्ष्य आत्मानन्दके भोगका बना रहता है। जैसे कोई छात्र विद्या पढ़ना नहीं चाहता हो, क्रीड़ाका रुचिवान हो तथापि माता पिताके दबावसे विद्या पढता हो, परीक्षामें उत्तीर्ण होता हो उसी तरह सम्यक्ती आत्माके भीतर रमनेका प्रेमी होता है तो भी कषायके वशमें होनेसे रुचि न होनेपर भी उसे गृहस्थके सर्व काम उत्तम प्रकारसे करने पड़ते हैं। जैसे बालक अवसर पाते ही खेलमें लग जाता है क्योंकि पढ़नेकी अपेक्षा खेलनेकी गाढ रुचि है उसीतरह सम्यक्ती अवसर पाते ही आत्माके ध्यानके अभ्यासमें लग जाता है।

ध्यानीको रागद्वेष मोहको त्यागनेकी जरूरत है। उसको व्यव-

हार नयको गौण करके निश्चयनयकी मुख्यतासे देखनेका अभ्यास करना योग्य है। इस निश्चय दृष्टिमें सर्व ही सिद्ध व संसारी जीव एक समान शुद्ध द्रव्य दिखलाई पड़ेंगे तब रागद्वेष मोहका कोई निमित्त ही नहीं रहेगा। समभावका अभ्यास रखना ही ध्यानका साधन है। दुःख व सुखके कारण मिलनेपर भी ध्यानीको कर्मोंका उदय विचारकर समभावी रहना योग्य है।

द्रव्य संग्रहमें कहा है—

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥ ४८॥

भावार्थ-हे भाई, यदि तू नानाप्रकार ध्यानकी सिद्धिके लिये मनको स्थिर करना चाहता है तो इष्ट व अनिष्ट पदार्थोंमें मत मोह कर, मत राग कर, मत द्वेष कर। सर्व विश्वको समभावसे देखकर समभावी हो।

आत्माको कैसा ध्यावै।

दंसणणाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो।
सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा॥ १७॥

अन्वयार्थ-(हु) निश्चयनयसे (दंसणणाणपहाणो) अनंत गुणोंका समूह है उन गुणोंमें दर्शन व ज्ञान प्रधान है (असंखदेसो) क्षेत्रकी अपेक्षा असंख्यात प्रदेशोंको धरनेवाला है, लोकमें व्याप सक्ता है (मुत्तिपरिहीणो) स्पर्श रस गंध वर्णमई मूर्तिसे रहित अमूर्तीक है (सगहियदेहपमाणो) इस समय अपने ही शरीरके प्रमाण आका-

रक्षा धारी है, अपने शरीरभरमें व्यापक है (एरिसो) ऐसा (अप्पा) आत्मारूपी देव (णायव्वो) जानना योग्य है।

भावार्थ—अपने आत्माको इन्द्रियोंसे देखा स्पर्शा नहीं जासक्ता है। द्रव्यार्थिकनयसे या निश्चयनयसे जानना चाहिये । अर्थात् यद्यपि यह आत्मा कर्मोंके साथ है शरीरके साथ है, तौभी जैसे मैले पानीमें पानीको मिट्टीसे अलग देखा जाता है वैसे आत्माको कर्मादि सर्व पुद्गलोंसे व कर्मोंके उदयके निमित्तसे यह रागद्वेषादि भावोंसे भिन्न देखना चाहिये । तब यह ऐसा दीखेगा कि यह अपने अमिट गुणोंका पिंडद्रव्य है। उनमें दर्शनज्ञान प्रधान है। यह आत्मा अपने ज्ञान दर्शन गुणोंके कारण सामान्य विशेष रूप सर्व जगतकी वस्तुओंमें तीन कालवर्ती पर्यायोंको एक ही काल जाननेको समर्थ है। जैसे मेघ रहित सूर्यका प्रकाश सर्वको एक साथ झलकता है वैसे ही आत्माका दर्शन ज्ञान गुण क्रम रहित सर्व जानने योग्य पदार्थोंको जाननेवाला है। किसी भी वस्तुका आकार होना चाहिये। आत्माका भी आकार है, उसको प्रदेशरूपी गजसे मापा जावे तौ वह लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी मापमें आता है, केवल समुद्घातके समय लोकव्यापी होजाता है, शेष समयोंमें शरीर प्रमाण रहता है। इसमें संकोच विस्तार शक्ति है जो नामकर्मके उदयसे काम करती है।

जब नामकर्मका उदय नहीं रहता है तब आत्मामें संकोच विस्तार दोनों नहीं होते हैं, इसलिये सिद्ध भगवान अंतिम शरीरमें जसा आकार होता है उसी आकारमें सिद्धालयमें विराजते हैं। इस समय मेरा आत्मा मेरे शरीरमें व्यापक है। आकार रखने पर भी

मूर्तीक आकार ऐसा नहीं है जो इन्द्रियोंके गोचर हो। जड़मई मूर्ति आत्माकी नहीं है । ऐसे अखंड अमूर्तीक शरीरव्यापी आत्माको इस तरह देखना चाहिये जैसे किसी मंदिरमें देव हो । इस देहरूपी मंदिरमें परमात्मा देव अपना विराजमान है । **समयसारकलशमें कहा है—**

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं ।
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥ १

भावार्थ—जो कोई बुद्धिमान भूत, भावी व वर्तमान कालमें बंधोंसे रहित मैं हूं ऐसा अपनेको भीतर देखता है और मोहभावको बलपूर्वक रोक देता है तब उसको अपने भीतर अविनाशी कर्म-कलंककी कीच रहित शुद्ध आत्मारूपी देव विराजमान नित्य दीखता है जिसका अनुभव आत्मानुभवके द्वारा ही होता है ।

आत्माको कैसे ध्यावै ।

रायदिया विभावा वहिरंतरउहवियप्प मुत्तूणं ।
एयग्गमणो झायहि णिरंजणं णियय‌अप्पाणं ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(रायादिया विभावा) रागादि विभावोंको तथा (वहिरंतरउहवियप्प) बाहरी व भीतरी दोनों प्रकारके विकल्पोंको या विचारोंको (मुत्तूणं) छोड़कर (एयग्गमणो) मनको एकाग्र करके (णियय‌अप्पाणं) अपने आत्माको (णिरंजणं) सर्व मलसे रहित निरंजन शुद्ध रूप (झायहि) ध्यावै ।

भावार्थ—ध्याताको उचित है कि निश्चयनयकी दृष्टिसे सर्व आत्माओंको समय शुद्ध देख करके राग द्वेष मोहादि भावोंको छोडे तथा निर्विकल्प होनेके लिये बाहरी पुत्र, मित्र, देश, ग्राम, शिष्य, मंदिर, तीर्थ आदिके विचारोंको भीतरी अनेक ज्ञानके मति, श्रुत आदि भेदोंको अथवा आत्माके गुणोंके चिंतवनको छोड़े। निश्चयनयके बलसे अभेद एक अखंड आत्माको अपने उपयोगके सामने लावे। मनको उसी निज स्वरूपमें ही जोड़ दे अर्थात् मनको एकाग्र करले, इसतरह कर्मादि मलके अंजनसे रहित निज आत्मारूपी देवका ध्यान करे।

ध्यान स्थिरताको कहते हैं। अपने आत्मामें स्थिरता पानेके लिये आत्माके शुद्ध निश्चय स्वरूपकी भावना उपकारी है। भावना करते करते मन जब यकायक स्थिर होजाता है तब आत्माका ध्यान या अनुभव पैदा होजाता है। यह ध्यान उत्तम संहननवालोंके भी अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं रह सक्ता है तब हम हीन संहननवालोंके यदि बहुत अल्पसमय रहे तो कुछ अलाभ नहीं मानना चाहिये। भावना बहुत देर तक रहती है। ध्यान बीचरमें कुछ समयतक रह सक्ता है।

श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासनमें कहते हैं—

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः।
नाऽहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन ॥ १९८ ॥
एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मानं भिन्नमन्यतः।
विधाय तन्मयं भावं न किंचिदपि चिंतये ॥ १९९ ॥

भावार्थ—पहले ऐसी भावना भावे कि मुझसे शरीरादि भिन्न

हैं उनसे मैं भिन्न हूं यही निश्चयतत्व है। न मैं उनका हूं न वे मेरे कोई हैं। इस तरह अपने आत्मद्रव्यमें सर्व आत्मद्रव्योंसे भिन्न निश्चय करके इसीमें तन्मय होजावे तब कुछ भी चिंतवन न करे। इसी आत्माके भीतर एकाकी भावको आत्मध्यान कहते हैं।

आत्मा निरंजन है।

जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ।
जाइजरामरणं विय णिरञ्जणो सो अहं भणिओ ॥ १९ ॥
णत्थि कला संठाणं मग्गणगुणठाण जीवठाणाइं।
णइं लद्धिबन्धठाणा णोदयठाणाइया केई ॥ २० ॥
फासरसरूवगंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो।
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(जस्स) जिस आत्माके (ण) न कोई (कोहो) क्रोध है (माणो) न मान है (माया) न माया है (लोहो य) तथा न लोभ है (सल्ल) न कोई शल्य है (लेस्साओ) न छहों लेश्याएं हैं (जाइ जरा मरणं विय) और न जिसके जन्म है, न जरा है, न मरण है (सो उवही णिरंजणो) निरंजन (अहं) मैं हूं (भणिओ) ऐसा कहा गया है ॥१९॥ (णत्थिकला) न कोई कला या खंड है या भेद है (संठाणं) न कोई छः संस्थानोंमें कोई संस्थान है (मग्गण) न कोई मार्गणा है (गुणठाण) न कोई गुणस्थान है (जीव ठाणाइं) न कोई जीव समास है (णइं लद्धि) न कोई संयम लब्धिके स्थान है (बन्ध ठाणा) न कोई बन्धके स्थान

है (णो वेई उदय ठाणा इया) और न कोई उदयके स्थान है (पुणो) फिर (जस्स) जिस आत्माके (णत्थि फास रस रूव गंध सद्दादीया य) न तो कोई स्पर्श है, न रस है, न वर्ण है, न गंध है न शब्दादिक है (सुद्धो) जो शुद्ध (चेयण भावो) चैतन्य भाव धारी है (सो णिरंजणो) वही निरंजन (अहं) मैं हूं (भणिओ) ऐसा कहा है।

भावार्थ-इन तीन गाथाओंमें शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अपने ही आत्माके स्वभावका विचार है। जो मूलद्रव्यके स्वभावको लक्षमें लेवे उसे ही निश्चयनय कहते हैं। उसकी अपेक्षासे यह आत्मा पूर्ण सिद्ध है, कर्म मलरहित है, शरीररहित है, रागादि भावोंसे रहित है, परम शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, निरंजन है, कोई प्रकारके अंजन या मैल आत्मामें नहीं है, न इसमें क्रोध मान माया लोभ कषाय है, न कोई हास्यादि नो कषाय है। ये सब मोहकर्मके उदयका अनुभाग है, रस है, कलुषपना है, जीवके स्वभावमें इनका पता नहीं लगता है। माया, मिथ्या, निदान ये तीन शल्य या कांटे भी मोहनीय कर्मके विपाकके मैल हैं। आत्माके निज मूल स्वभावमें इनका कोई स्थान नहीं है।

कृष्ण, निल, कापोत तीन अशुभ व पीत पद्म शुक्ल तीन शुभ लेश्याएं भी आत्माके स्वभावमें नहीं हैं, ये भावोंके रंगके दृष्टांत हैं। मनवचन कायके हिलनेसे योगका परिणमन होता है और वह योग जब कषायोंके रंगसे अधिक या कम रंगा होता है तब उसे लेश्या कहते हैं। ऐसी कषायसे अनुरंजित लेश्या सूक्ष्मसांपराय दशवें गुण-

स्थानतक है। कषायके रागसे न रंगी हुई केवल योगप्रवृति रूप शुक्ल लेश्या ११, १२, १३, गुणस्थानमें है। जिसके कारण कर्मवर्गणा आत्माके साथ मिलें उसे लेश्या कहते हैं। कर्मोंका आस्रव तेरहवें गुणस्थान तक होता है।

जब तीव्र कषायका उदय होता है तब मन वचन कायकी प्रवृत्ति अशुभ होती है—हानिकारक होती है, उस समयके भावोंको अशुभ लेश्या कहते हैं। अशुभतम कृष्ण है, अशुभतर नील है, अशुभ कापोत है। जब कषाय मन्द होता है, परोपकारके भावमें व आत्महितमें व मंद रागमें प्रवर्तता है तब शुभ लेश्या होती है। शुभ पीत है, शुभतर पद्म है, शुभतम शुक्ल है। जन्म भी आत्मामें नहीं है। स्थूल शरीर औदारिक व वैक्रियिकके सम्बन्धको जन्म कहते हैं। जरा भी आत्माके नहीं होती है। औदारिक शरीरके जीर्णपनेको जरा कहते हैं। मरण भी उनके नहीं है। स्थूल औदारिक या वैक्रियिक शरीरके वियोगको मरण कहते हैं। आत्माके स्वभावमें कोई खण्ड या भेद नहीं है, आत्माके टुकडे नहीं होसक्ते, न आत्माके भीतर ज्ञान दर्शन वीर्य सुख दि गुणोंके भेद हैं। वह अनंत गुण पर्यायोंका अखण्ड खण्ड है, न आत्माके भीतर खण्ड ज्ञानके भेद हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय खण्ड व क्रमवर्ती ज्ञान है। आत्मा अखण्ड अक्रम सर्व ज्ञानका समूह है।

आत्माके भीतर शरीरके छः प्रसिद्ध संस्थान नहीं हैं। समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, बामन, स्फटिक ये छः संस्थान शरीरके होते हैं। न आत्माके कोई मार्गणाएँ हैं। संसारी

जीवोंके भीतर कर्मोंके उदयकी अपेक्षाको लेकर विशेष जो अवस्थाएं होती हैं उनको मार्गणा कहते हैं वे, अवस्थाएँ चौदह प्रकारकी हैं–

(१) गति चार–नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।

(२) इन्द्रिय पांच–स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण।

(३) काय ६–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति व त्रस।

(४) योग १५–सत्य, असत्य, उभय, अनुभय, मनोयोग ४, सत्य, असत्य, उभय, अनुभय वचनयोग ४, औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, अहारकमिश्र, कार्मण ये ७ काययोग।

(५) वेद तीन–स्त्री, पुरुष, नपुंसक।

(६) कषाय पच्चीस–१६ कषाय व ९ नो कषाय हास्यादि।

(७) ज्ञान आठ–कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल।

(८) संयम सात–असंयम, देश संयम, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात।

(९) दर्शन चार–चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल।

(१०) लेश्या छह–कृष्णादि।

(११) भव्यत्व २–भव्यत्व, अभव्यत्व।

(१२) सम्यक्त छः–मिथ्यात्व, मिश्र, सासादन, उपशम, वेदक क्षायिक।

(१३) संज्ञी दो–संज्ञी, असंज्ञी।

(१४) आहारक दो–आहारक, अनाहारक।

आठ प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंके संयोगवश ये चौदह मार्गणाएँ हैं। आत्माके सहज स्वभावमें इन भेदोंका कोई काम नहीं है। वहां तो अखण्ड एक ज्ञायक भाव है।

आत्माके स्वभावमें कोई गुणस्थान भी नहीं है। अशुद्धताको घटाते हुए व शुद्धताको प्राप्त करते हुए मोक्षमहलके ऊपर चढ़नेके लिये जो श्रेणियां या पद हैं उनको गुणस्थान कहते हैं। मोहनीय कर्म तथा योगोंकी अपेक्षासे इनके नाम पड़े हैं—

(१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) मिश्र, (४) अविरत सम्यक्त, (५) देशविरत, (६) प्रमत्तविरत, (७) अप्रमत्तविरत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्ति करण, (१०) सूक्ष्म सांपराय, (११) उपशांत मोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोग केवली जिन, (१४) अयोग केवली जिन। इनमेंसे पहले पांच गुणस्थान गृहस्थोंके व श्रावकोंके होते हैं व पंचेन्द्रिय पशुओंके भी होते हैं। पहले चार गुणस्थान देव नारकियोंको होते हैं। छट्ठेसे बारह तक सात गुणस्थान संयमी साधुओंके होते हैं। अंतके दो गुणस्थान अरहंत केवलीके होते हैं। सिद्धोंके कोई गुणस्थान नहीं है।

न इस आत्माके कोई जीवस्थान या जीवसमास हैं। जहां जीवोंकी जातियोंकी अपेक्षा समूह किये जावें उनको जीव स्थान कहते हैं। चौदह जीव समास प्रसिद्ध हैं। (१) एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त, (२) एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त, (३) एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, (४) एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त, (५) द्वेन्द्रिय पर्याप्त, (६) द्वेन्द्रिय अपर्याप्त, (७) तेंद्रिय पर्याप्त, (८) तेंद्रिय अपर्याप्त, (९) चोंद्रिय

पर्याप्त, (१०) चौन्द्रिय अपर्याप्त, (११) पंचेन्द्रिय असैनी पर्याप्त, (१२) पंचेन्द्रिय असैनी अपर्याप्त, (१३) पंचेन्द्रिय सैनी पर्याप्त, (१४) पंचेन्द्रिय सैनी अपर्याप्त। जब कोई जीव कहीं जन्म लेता है तब अंतर्मुहूर्ततक जबतक शरीरादि बननेकी शक्ति न प्राप्त करे अपर्याप्त कहलाता है, फिर पर्याप्त होजाता है या शक्ति न प्राप्त करके मर जाता है।

आत्माके कोई लब्धि स्थान भी नहीं है। न इसमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करणलब्धिके स्थान हैं जो सम्यक्तकी प्राप्तिमें साधन हैं। न इसमें संयमकी वृद्धिरूप संयमलब्धि स्थान हैं। न इसे आत्माके स्वभावमें कोई कर्मबंधके स्थान हैं, न कोई कर्मोंके उदयके स्थान हैं। न इसमें कोई स्पर्श है, न कोई रस है, न कोई गंध है, न कोई वर्ण है, न कोई शब्द है। ये सब पुद्गलके भीतर होते हैं। इत्यादि जितने भी भेद प्रभेद पुद्गलके संयोगसे जीवमें कहलाते हैं वे कोई भी भेद प्रभेद इस आत्माके मूल स्वभावमें नहीं हैं। मूलमें तो यह अखण्ड ज्ञायक भावरूप चैतन्य प्रभु है। पूर्ण विकसित सूर्यके समान है। स्वभावसे प्रकाशरूप है, समदर्शी है, कृत-कृत्य है, परम संतोषी है, परमानंदी है। ऐसे आत्माको निरंजन कहते हैं, वैसा ही निरंजन मैं हूं। इस तरह अपने आत्माकी भावना करे। इन तीन गाथाओंमें जो कुछ वर्णन मार्गणा, गुणस्थान, जीव समास, लेश्या व बंध व उदयस्थान आदिका है उनके ज्ञानके लिये पाठकोंको श्री नेमिचंद सिद्धांत चक्रवर्ती कृत गोम्मटसार जीवकांड व कर्मकांड भले प्रकार पढ़ जाना चाहिये। उनको यह भलेप्रकार दिख जायगा

कि कर्मपुद्गलोंके संयोगमें आत्माकी क्या क्या अवस्थाएं किसतरह होती हैं, संसार नाटकका सब स्वरूप प्रगट हो जायगा । आत्मा स्वभावसे संसारके नाटकके कर्तापनेसे व भोक्तापनेसे रहित है । यह आत्मा अपने स्वाभाविक परिणामका ही कर्ता व भोक्ता है । इस-तरह निरंजन आपको भावे । **समयसारकलशमें कहा है-**

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥९-२॥

भावार्थ-इस आत्माके स्वभावसे वर्णादि, गुणस्थानादि, राग-मोहादिसे सब भाव भिन्न हैं, इस कारण यदि निश्चयसे आत्माके भीतर देखा जावे तो इनमेंसे किसीका भी पता न चलेगा-एक उत्कृष्ट शुद्ध स्वरूप ही दिखलाई पड़ेगा । इसतरह मैं सिद्धके समान परम शुद्ध निरंजन देव हूं, मैं केवल निराला एक आत्मा हूं, मेरेमें सर्व ही परका अभाव है, ऐसा स्याद्वाद नयसे जानकर केवल अपने शुद्ध स्वभावका ही ध्यान या अनुभव करना योग्य है ।

व्यवहारनयका कथन ।

अत्थित्ति पुणो भणिया णएण ववहारिएण ए सव्वे ।
णोकम्मकम्मणादी पज्जाया विविहभेयगया ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ-(पुणो) परन्तु (ववहारिएण णएण) व्यवहार नयसे (ए सव्वे विविहभेयगया) ये सर्व नाना प्रकार भेदको रखनेवाली (णोकम्मकम्मणादी पज्जाया) नोकर्म व कर्म्म आदि पर्याएं (अत्थित्ति) जीवके हैं ऐसा (भणिया) कहा गया है ।

भावार्थ–ऊपरकी तीन गाथाओंमें निश्चयनयसे जीवका स्वरूप है। उसी संसारी जीवको जब अशुद्ध दृष्टिसे या व्यवहार दृष्टिसे या कर्मबंध सहित दृष्टिसे देखा जावे तो उसकी भूत, भावी, वर्तमान अवस्थाएं जो कर्मोंके संयोगसे होती हैं वे दीखनेमें आयंगी। इसलिये आगममें व्यवहारनयसे यह बात कही है कि जीवके रागादि भावकर्म हैं, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं, शरीरादि नोकर्म हैं।

जीवको चौदह मार्गणाएं व चौदह गुणस्थान होते हैं। जीव नर, नारकी, देव, तिर्यंच हैं। एकेन्द्रिय द्वेन्द्रियादि हैं। कर्मोंके संयोगसे जो २ अन्तरंग आत्माके भावोंकी व बाहरी शरीरकी अवस्थाएं हैं उनको आत्मामें हैं ऐसा कहना व्यवहार है। जैसे मिट्टीसे मिले पानीको गन्दला कहना, लाल रंगसे मिले पानीको लाल रंग, हरे रंगसे मिले पानीको हरा रंग, पीले रंगसे मिले पानीको पीला कहनेका लोक व्यवहार है। ऐसा कहनेपर भी कोई भी बुद्धिमान ऐसा नहीं समझ जायगा कि पानीका स्वभाव नानाप्रकारका मैला, लाल, हरा, पीला है, किंतु यह यही जानेगा कि पानीका स्वभाव तो निर्मल ही है। दूसरी वस्तुके संयोगसे अवस्था बदल गई है, निर्मलता बढ़ गई है, इससे उसे ऐसा कहते हैं। ऐसा कहे विना पानीकी नानाप्रकारकी अवस्थाओंका ज्ञान नहीं होसक्ता।

खड्गोंको सुवर्णके, चांदीके, पीतलके, तांबेके कोषोंमें रखा जावे तो सुवर्णकी, चांदीकी, पीतलकी, तांबेकी खडग कहनेका व्यवहार है, क्योंकि कोष प्रगट दिखता है। ऐसा कहने व सुननेपर भी कोई भी बुद्धिमान ऐसा नहीं मान बैठेगा कि खडग, सुवर्ण, चांदी,

पीतल या तांबेकी है। यही समझेगा कि खडग तो एक ही प्रकारकी सर्व कोषोंमें हैं। कोषोंके संयोगसे ये नाम व्यवहारमें व्यवहार चलानेके लिये कहे जाते हैं, वैसे ही संसारी जीव कर्म संयोगसे अनन्तानन्त पर्यायोंमें पलटा करते हैं, अनन्तानन्त शरीर धारण किये हैं व जहांतक कर्मका संयोग है धारण करेगा तब जैसा शरीर होता है वैसा नाम भी व्यवहार किया जाता है, परन्तु इन सर्व अनंतानंत पर्यायोंमें जीव जीवरूप ही है, एकरूप ही है। स्वभावका नाश नहीं हुआ, केवल इसपर परदा या विकार होगया है।

ज्ञानी व्यवहारमें जीवको नानारूप कहते व देखते हुए भी मूल स्वभाव नानारूप नहीं मान बैठेगा, किंतु एक रूप ही सर्व जीवोंको मानेगा। अज्ञानीको मूल स्वभावका ज्ञान व श्रद्धान नहीं है अतएव वह परके संयोगसे हुई अवस्थाको ही जीवकी स्वाभाविक अवस्था है ऐसा मानके भ्रम बुद्धिसे कभी भी जीवके मूल स्वभावका दर्शन या सम्यग्दर्शनका स्वाद या अनुभव नहीं कर सकेगा। राग द्वेष मोह भावका ही स्वाद लेता हुआ संसारमें पाप व पुण्य बांधकर भ्रमण ही करता रहेगा। संसारका बीज यही अज्ञान है जैसा पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥ १४॥

भावार्थ—यह जीव निश्चयसे कर्मोंके द्वारा होनेवाली अवस्थाओंको मूलमें नहीं रखता है तौभी अज्ञानियोंको ऐसा ही झलकता है कि यह जीव ऐसा ही है। यही अज्ञान संसारका बीज है। जो

कोई मैले पानीको पानीका स्वभाव मान लेगा वह कभी भी निमली डाल कर पानीको स्वच्छ न करेगा। उसे शुद्ध पानीका स्वाद नहीं आएगा। कर्मोंके संयोगवश नानाप्रकार जीवकी अशुद्ध अवस्थाओं-को जीवकी ही स्वाभाविक पर्यायें मानना ही मिथ्यात्व है। ये अव-स्थाएं अकेले शुद्ध जीवकी नहीं हैं। जीव स्वभावसे शुद्ध गुण पर्या-योंका धारी है ऐसा मानना ही सम्यक्त है, यही मुक्तिका बीज है।

दूधपानी समान जीव कर्म संयोग है।

संबंधो एदेसिं णायव्वो खीरणीरणाएण।
एकत्तो मिलियाणं णियणियसब्भावजुत्ताणं ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(खीरणीरणाएण) दूध और पानीके न्यायसे (णिय-णियसब्भावजुत्ताणं) अपने अपने स्वभावको लिये हुए (एदेसिं) इनका (मिलियाणं) मिला हुआ (एकत्तो संबंधो) एकसा सम्बन्ध (णायव्वो) जानना योग्य है।

भावार्थ—जैसे दूध और पानी मिले हुए हों वह एकमेक होजाते हैं। पानी दूधकी सफेदी व चिकनईमें छिप जाता है। एक दूध नामसे ही पुकारा जाता है तौ भी दूधने दूधपनेका व पानीने पानीके स्वभावको नहीं छोड़ा है। हंस दूधको पीकर पानीको छोड़ देता है। इसी तरह जीव अनादिकालसे आठ प्रकारके कर्म पुद्गलोंके साथ मिलता हुआ विछुड़ता हुआ चला जारहा है। तथापि जीव अपने स्वभावको व कर्म पुद्गल अपने स्वभावको खो नहीं बैठे। दोनोंका अपना अपना स्वभाव दोनोंमें है।

दो पदार्थोंको मिला हुआ देखकर भी प्रत्येकका अपना अपना स्वभाव जैसाका तैसा जानना ही ठीक ज्ञान है या सम्यग्ज्ञान है। आत्मामें जो उपयोग स्वभाव है वह जड़ शरीरादिमें नहीं है। आत्मा ज्ञाता भी व ज्ञेय भी है और सर्व द्रव्य ज्ञाता नहीं है केवल ज्ञेय हैं, आत्माके द्वारा जाननेके योग्य है।

समयसारजीमें भी कहा है—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंताभावा ण दु कोई णिच्छयणयस्स ॥ ६१ ॥
एदे हिय सम्बंधो जहेव खीरोदयं मुणे दव्वं ।
णय हुंति तस्स ताणि दु उवओग गुणाधिगो जम्हा ॥ ६२ ॥

भावार्थ–वर्णादि, रागादि, गुणस्थानादि जीवके व्यवहारनयसे कहे गए हैं, निश्चयनयसे इनमें कोई भी जीवके नहीं हैं। इनका संयोग सम्बन्ध जीवके साथ दूध पानीके मेलके समान है। जैसे दूध पानीसे भिन्न है वैसे जीवसे ये सब भिन्न हैं। जीवमें उपयोगका स्वभाव अधिक है। जीव शुद्ध उपयोगका धारी है।

भेदविज्ञानका महात्म्य ।

जह कुणइ कोवि भेयं पाणियदुद्धाण तक्कजोएण ।
णाणी व तहा भेयं करेइ वरज्ञाणजोएण ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ–(जह) जैसे (कोवि) कोई (तक्कजोएण) तर्कबुद्धिसे (पाणिय दुद्धाण भेयं) पानी और दूधके भिन्न २ स्वभावको (कुणइ) जान लेता है (तहा) वैसे (णाणी व) सम्यग्ज्ञानी

भी (वर णाण जोएण) उत्तम भेदविज्ञानके द्वारा (भेयं करेइ) जीव और अजीवका भेद–उनका भिन्न २ स्वभाव जान लेता है।

भावार्थ–भेदविज्ञान एक कला है या चतुराई है जिससे संयोग प्राप्त पदार्थ मिले हुए रहते हुए भी भिन्न २ देखे जाते हैं। दूध व पानी मिले रहनेपर भी बुद्धिमें उनकी भिन्नता झलकती है। सुवर्ण चांदी मिले होनेपर भी सर्राफको सुवर्ण चांदीसे भिन्न दिखता है। धान्यके भीतर किसानको चावल और छिलका अलग २ जान पड़ता है। तेलीको तिलोंके भीतर तेल और भूसी अलग दीखती है। सागभाजीमें चतुर पुरुषको लवण व भाजीका भिन्न२ स्वाद आजाता है। वैद्यको एक गोलीमें भिन्न२ औषधियोंका पता लग जाता है।

इसी तरह तत्वज्ञानी जीव जो छहों द्रव्योंके गुण व पर्यायोंको भिन्न २ समझता है, जीव और पुद्गलोंमें वैभाविक शक्तिके कारण परस्पर संयोग होते हुए जो नाना प्रकार जीव समास, मार्गणा, व गुणस्थानके भेद व्यवहारसे जीवमें कहे जाते हैं, उन सबके भीतर अपनी प्रज्ञा-शक्तिसे जीवके स्वभावको अजीवके स्वभावसे भिन्न देखता है। उस भेदविज्ञानी महात्माको एक वृक्ष, एक लट, एक चींटी, एक मक्खी, एक मृग, एक स्त्री, एक पुरुष, रोगी, निरोगी, सुंदर, असुंदर, क्रोधी मानी, मायावी, लोभी, कामी, प्राणियोंके भीतर आत्मा अपने मूल स्वभावमें परसे भिन्न सिद्धके समान शुद्ध दिखता है और पुद्गल भिन्न दिखता है।

सर्व विश्वकी संसारी आत्माओंमें व अनंत सिद्धात्माओंमें भेद-ज्ञान एकसमान पुद्गलके स्वभावको देख लेता है। इसी भेदविज्ञानसे

ज्ञानी मानव अपने आत्माको औदारिक, तैजस, कार्मण शरीरोंसे व सर्व रागादि विभावोंसे भिन्न देखता है। व्यवहारमें वह कहता है कि मैं मानव हूं परन्तु वह जानता है कि यह कहना मानव गति व आयुकर्मके उदयसे प्राप्त मानवकी अवस्थाकी अपेक्षासे है। मैं तो निश्चयसे पवित्र आत्मा हूं। मनुष्यका देह छूट जायगा, आत्मा बना रहेगा, पुराने कर्म छूटते हैं, नए कर्म बंधते है, आत्मा वहीं रहता है। किसी आकाशमें धूआं छाया हुआ है, नया आता है पुराना जाता है, आकाशके प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाह संयोग संबंध होनेपर भी आकाश अमूर्तिक भिन्न है धूआं मूर्तिक भिन्न है। ऐसे ही कर्मोंके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग संबंध होने पर भी जीव अमूर्तिक भिन्न है मूर्तिक कर्म पुद्गल भिन्न है। इसीको भेद विज्ञान या प्रज्ञा कहते हैं या दिव्यचक्षु या तर्क कहते हैं।

समयसार कलशमें कहा है—

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था।
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः॥
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्॥ १९–३॥

भावार्थ—भेदविज्ञानसे ही उष्ण पानीके भीतर भी ज्ञानीको यही दिखता है कि पानी शीतल है उष्णता अग्निकी है। एक साग-भाजीमें लवणका स्वाद भिन्न प्रगट होता है इसी तरह सम्यग्ज्ञानी जीव आत्माको चैतन्यमई अपने स्वाभाविक ज्ञानानन्द रसमें कल्लोल करता हुआ देखता है और उसे क्रोधादि विकार पौद्गलिक कर्मका

अनुभाग दिखता है। मैंने क्रोध किया, क्रोधका मैं कर्ता हूं, क्रोध मेरा कर्म है यह व्यवहारका वचन सत्य नहीं है। आत्माका स्वभाव क्रोधादि रूप कदापि नहीं है, ये क्रोधादि कर्मके उदयके विकार हैं जो जीवके ज्ञानोपदेशके साथ मिलकर क्रोधादि भावरूप दिखते हैं परन्तु क्रोधादिकी कलुषता पुद्गलमई है, जीव इनसे भिन्न है। जीव सिद्धके समान है सिद्धोंमें रागादिकी कलुषता नहीं है वैसे ही हर-एक आत्माके भीतर नहीं है। भेद विज्ञानकी दृष्टि आत्माको परम वीतराग देखती है।

अपने ही आत्माको ग्रहण करना चाहिये।

णाणेण कुणउ भेयं पुग्गलजीवाण तह य कम्माणं।
घेत्तव्वो णिय अप्पा सिद्धसरूवो परो बंभो ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ-(णाणेण) भेदविज्ञानके द्वारा (पुग्गलजीवाण) पुद्गल और जीवका (तह य) तथा (कम्माणं) कर्मोंका (भेयं कुणउ) भेद करो (सिद्धसरूवो) सिद्ध स्वभावी (परो बंभो) परब्रह्म स्वरूप (णिय अप्पा) अपना आत्मा (घेत्तव्वो) ग्रहण करने योग्य है।

भावार्थ-निश्चय नयके द्वारा देखते हुए यद्यपि अपना आत्मा औदारिक, तैजस, कार्म्मण तीन शरीरोंके संयोगमें है तथा कर्मोंके उदयसे होनेवाले राग, द्वेष, मोहादि विभावोंको लिये हुए है तौ भी बिलकुल पृथक् दिखता है। सर्व पुद्गल सम्बन्धी द्रव्य गुण पर्यायसे भिन्न ही झलकता है, ऐसा देखकर ज्ञानी जीवको उचित है कि अपने द्रव्य स्वरूप एकाकी केवल आत्मा मात्रको ग्रहण करले,

उसीका ध्यान करे या अनुभव करे । तब वह अपना आत्मा सिद्धके समान शुद्ध परमब्रह्म स्वरूप ही अनुभवमें आएगा ।

भेदज्ञानकी दृष्टिसे सुवर्णका कण जो घोर कीचमें पड़ा है, कीचसे भिन्न दिखता है तब सुवर्णका चाहनेवाला उस कणको ग्रहण कर लेता है । इसी तरह सम्यक्दृष्टी और सम्यग्ज्ञानी भी जिसको अपना आत्मा अनंतानन्त कर्म पुद्गलोंके मध्यमें पड़ा हुआ बिलकुल कर्मोंसे भिन्न शुद्ध चैतन्यमई दीखता है सहजमें उसे ग्रहण करके अनुभव कर लेता है । यही शुद्धात्मानुभव वीतराग भाव उत्पन्न करता है जिससे संवर और निर्जराका लाभ होता है ।

समयसार कलशमें कहा है—

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ॥
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं ।
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥ ८–६ ॥

भावार्थ–जब वारम्वार भेद ज्ञान भीतर उछलता है, दीर्घ कालतक आत्माको पर सर्व संयोगसे भिन्न मनन किया जाता है तब शुद्ध आत्माके तत्वका लाभ होजाता है । तब रागद्वेषका ग्राम भस्म होजाता है उसीसे नवीन कर्मोंका निरोध होता है । तब ज्ञान अपने ही ज्ञान स्वरूपी आत्मामें निश्चल होजाता है । उत्कृष्ट प्रकाशको लिये निर्मल, एक, सहज स्वभावी, नित्य उद्योतरूप उदय रहता है । अर्थात् शुद्धात्मानुभव करते हुए केवलज्ञानका लाभ होजाता है ।

शरीर मंदिरमें आत्मादेव।

मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ–(सिद्धीए) सिद्ध गतिमें (जारिसो) जैसा (सिद्धो) सिद्ध भगवान (मलरहिओ) सर्व मलरहित (णाणमओ) व ज्ञानस्वरूपी (णिवसइ) विराजमान है (तारिसओ) तैसाही (देहत्थो) अपनी देहके भीतर विराजमान (परमो बंभो) परम ब्रह्मको (मुणेयव्वो) जानना चाहिये।

भावार्थ–सिद्ध भगवान लोकाग्र तनुवातवलयके स्थानपर अपने शुद्ध स्वभावमें पुरुषाकार पद्मासन या खड्गासन विराजमान है, उनके आत्मामें कोई मल नहीं है। न ज्ञानावरणादि आठ कर्मका मल है न रागद्वेषादि भाव कर्मका मल है न कोई शरीरादि है। वे परम शुद्ध ज्ञान स्वरूपी आनंदमई शोभ रहे हैं। वैसे ही अपने शरीरके भीतर पद्मासन या खड्गासनसे स्थित योगीको अपना आत्मा सर्व मल रहित परम ब्रह्म परमात्मारूप निरंजन निर्विकार परमानन्दमई अनुभवमें आता है। सिद्ध समान ही मैं हूं ऐसा मनन करते हुए ही स्वानुभवका प्रकाश होता है। **नागसेन मुनि कहते हैं—**

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहं।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥ १६४ ॥

भावार्थ–मैं सदा ही कर्मोंके द्वारा होनेवाले सर्व ही भावोंसे भिन्न हूं, ज्ञान स्वभावधारी हूं, परम वीतराग हूं। इस तरह अपने आत्माको अपने ही द्वारा अनुभव करे।

अपने आत्माको ऐसा ध्यावै ।

णोकम्मकम्मरहिओ केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो ।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालंवो ॥ २७ ॥
सिद्धोहं सुद्धोहं अणंतणाणाइगुणसमिद्धोहं ।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ–(जो) जैसे (सिद्धो) सिद्ध भगवान (णोकम्म कम्म रहिओ) नोकर्म और द्रव्यकर्म भावकर्म रहित हैं। (केवलणाणाइगुणसमिद्धो) केवलज्ञानादि गुणोंसे पूर्ण है (सुद्धो) शुद्ध हैं, (णिच्चो) अविनाशी हैं (एक्को) एक हैं। (णिरालम्बो) परावलंब रहित स्वावलम्बी हैं (सोहं) वैसा ही मैं हूं। (सिद्धोहं) मैं ही सिद्ध हूं (सुद्धोहं) मैं ही शुद्ध हूं। (अणंतणाणाइगुणसमिद्धोहं) मैं ही अनंतज्ञानादि गुणोंसे पूर्ण हूं (णिच्चो) नित्य हूं। (अमुत्तो) अमूर्तीक हूं (व) और (असंखदेसो) असंख्यात प्रदेशवान हूं (देहपमाणो) अपनी देहके बराबर आकारमें हूं ऐसी भावना करें।

भावार्थ–सिद्ध भगवान शुद्ध आत्माका साक्षात नमूना है। नमूना जैसा है वैसा ही मैं भी अपने स्वभावसे हूं। कोई अंतर सिद्ध और मुझमें नहीं है। मैंने निश्चयनयकी द्रव्य दृष्टिसे अपनेको सिद्ध समान देखा है। यह मनन कर रहा हूं कि जैसे सिद्धमें आठ कर्म नहीं हैं वैसे मेरेमें भी नहीं हैं। जैसे सिद्धके रागादिभाव कर्म नहीं हैं वैसे मेरेमें भी रागादि विभाव नहीं है। जैसे सिद्धके कोई औदारिक, वैक्रियिक, आहारक व तैजस शरीररूपी नोकर्म

नहीं है वैसे मेरेमें भी नहीं है। जैसे सिद्ध शुद्ध अनंतज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, सम्यक्त आदि स्वाभाविक गुणोंसे पूर्ण हैं, वैसा ही मैं हूं। जैसे सिद्ध परम निर्मल हैं व अविनाशी हैं, वैसा ही मैं हूं। जैसे सिद्ध अपनी सत्तासे एक अकेले हैं व स्वाधीन हैं, वैसा ही मैं अपनी सत्तासे एक अकेला व स्वाधीन हूं।

सिद्धके समान मैं भी अमूर्तीक वर्णादि रहित असंख्यात प्रदेश रखता हूं, सिद्ध भी अंतिम शरीरके प्रमाण आकार रखते हैं। मैं भी इस देहके बराबर आकार रखता हूं। सिद्ध लोकाग्र तनुवातवलयमें विराजमान हैं, मैं अपने देहके भीतर प्रसरित वायु व आकाशमें विराजमान हूं। इसतरह ज्ञानी ध्याताको उचित है कि अपने आत्माको पूर्ण स्वतंत्र मनन करे। जैसे घटके भीतर निर्मल गंगाजल भरा होता है वैसे मेरे शरीरके भीतर शुद्ध आत्मा भरा है, तिष्ठा है। जैसे खाली घटके भीतर घटाकार आकाश है वैसे मेरे शरीरके भीतर अमूर्तीक आकाशके समान आत्मा है।

ऐसा ही द्रव्य स्वभाव विचार करे कि मेरेमें न कभी कर्मबंध था न कभी है न कभी होगा। मैं सदा ही निरंजन निर्विकार हूं। मननके समय अशुद्ध नयको, व्यवहारनयको या पर्याय दृष्टिको गौण कर दे। उस दृष्टिसे काम न ले, क्योंकि अशुद्ध दृष्टिसे आत्मा अशुद्ध दीखता है। यहां तो स्वतत्वका ध्यान करना है। जब शुद्ध दृष्टिसे ही देखे तब अपना आत्मा शुद्ध ही दिख पड़ेगा। ऐसा ही वारवार देखना यही भावना है। भावना ही ध्यानकी माता है। जैसे दूधके विलोते विलोते अकस्मात मक्खन बन जाता है, वैसे शुद्ध आत्मारूप अपना

मनन करते करते कभी अकस्मात् स्वात्मानुभव या स्वात्मध्यान हो जाता है। साधकको उचित है कि भावना भानेके लिये निराकुल होकर समय निकाले और अभ्यास करे। आप ही साध्य है, आप ही साधक है। साधकभावको कारण परमात्मा या कारण समयसार कहते हैं। साध्य भावको कार्य परमात्मा या कार्य समयसार कहते हैं। मैं परमात्मा हूं यही मनन व यही अनुभव परमात्मा होनेका उपाय है। जैसा ध्यावे वैसा होजावे। सम्यग्दृष्टी ज्ञानीके लिये अपना शरीर ही सिद्धक्षेत्र दिखता है। सर्व परसे नाता तोडकर आपसे आपको मनन करना, यही स्याद्वादका विचार है। मैं स्वभावसे अपनी सत्ता रखता हूं, उसीसमय परभावोंकी, परपदार्थोंकी, अपने सिवाय सर्व चेतन अचेतन द्रव्योंकी, कर्म नोकर्म भावकर्मकी कोई सत्ता मेरेमें नहीं है। मैं भावाभाव रूप हूं। मननके पीछे स्वानुभवके समय यह स्याद्वादका विकल्प भी नहीं होता है। समयसारकलशमें कहा है:—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥११॥

भावार्थ—अपना पद व्यवहारी क्रियाकांड मात्रसे कभी प्राप्त नहीं होसक्ता है, परन्तु सहज स्वाभाविक आत्मज्ञानके द्वारा सहजमें प्राप्त होसक्ता है। इसलिये हे जगतके साधक भव्य जीवो! निरंतर आत्माके ज्ञान रूपी कलाके बलसे अपने शुद्ध पदका साधन करो। अर्थात् अपने आत्माको शुद्ध सिद्धात्मक अनुभव करो। यही मोक्षका उपाय है।

आत्मध्यानसे द्रव्यलाभ ।

थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे ।
पयडइ बंभसरूवं अप्पाझाणेण जोईणं ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ-(मणसंकप्पे थक्के) मनके संकल्पोंके बंद होजाने पर (अक्खाण विसयवावारे रुद्धे) इन्द्रियोंके विषयोंके व्यापार रुक जानेपर (अप्पाझाणेण) आत्माके ध्यानसे (जोईणं) योगीके भीतर (बंभसरूवं) परमब्रह्म परमात्माका स्वरूप (पयडइ) प्रगट होजाता है।

भावार्थ-यह आत्मा स्वयं स्वभावसे परमात्मा है। इसका ज्ञानोपयोग चंचल होरहा है। यह पांचों इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण योग्य पदार्थोंके ग्रहणमें रागवश भ्रमण किया करता है या मनके द्वारा तर्क वितर्क करनेमें उलझा रहता है-मैंने ऐसा किया था, मैं ऐसा करता हूं, मैं ऐसा करूंगा। इन्द्रियोंके विषयोंकी प्राप्ति, रक्षा व वृद्धिके लिये यत्न विचारा करता है। यदि वह ज्ञानोपयोग इन्द्रियोंके व मनके द्वारा काम करना बन्द कर दे तब इन्द्रिय व मनका व्यापार बंद होजायगा। उस समय ज्ञानोपयोग अपने आत्माके भीतर ही रमेगा, आत्माका ध्यान होजायगा।

शुद्धात्माका ध्यान ही शुद्धात्माके स्वरूपका प्रकाश करनेवाला है। ध्यानके अभ्यासीको योगी कहा है। क्योंकि ध्यानका साधन ज्ञान व वैराग्य है। योगीको यह यथार्थ ज्ञान होना चाहिये कि मेरे आत्माका स्वभाव परके संयोग रहित शुद्ध सिद्धके समान है। वैराग्य ऐसा होना चाहिये कि मुझे संसारके कोई पद इन्द्र अहमिंद्र चक्रवर्ती आदि नहीं चाहिये, केवल स्वरूपा-

नंदका प्रेमी हो, वैषयिक सुखसे वैरागी हो। ज्ञानवैराग्य रूपी मसाले को लेकर जब आत्माके ध्यानसे आत्माको वस्त्रके समान रगड़ा जाता है तब कर्मका मैल कटता है और अपना स्वभाव धीरे २ झलकता चला जाता है। निर्विकल्पतत्व आप ही है, उसीमें उपयुक्त होनेसे स्वानुभवका लाभ होता है।

तत्वानुशासनमें नागसेनमुनि कहते हैं—

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने॥ ७९ ॥

भावार्थ—ध्यानकी उत्पत्तिमें इतनी सामग्रीका संयोग होना चाहिये (१) परिग्रहका त्याग, एकांतवास (२) क्रोधादि कषायोंका निरोध, (३) व्रतोंको धारण करना (४) मन तथा पांच इन्द्रियोंका विजय।

मन व इन्द्रिय निरोध आवश्यक है।

जह जह मणसंचारा इन्दियविसयावि उवसमं जंति।
तह तह पयडइ अप्पा अप्पाणं जाण हे सूरो॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—(जह जह) जैसे जैसे (मणसंचारा) मनका भ्रमण (इन्दियविसयावि) और पांचों इन्द्रियोंकी विषयोंकी इच्छा (उवसमं जंति) ठंडी होती जाती है (तह तह) तैसे तैसे (अप्पा) आत्मा (अप्पाणं) आत्माको (पयडह) प्रगट करता जाता है (हे सूरो जाण) हे वीर योगी! तू ऐसा जान।

भावार्थ—यहांपर यह बताया है कि पांच इन्द्रिय व मनके द्वारा उपयोगका भ्रमण ही आत्माके प्रकाशका बाधक है या इन्द्रि-

योंके भोगोंकी इच्छा ही इष्ट पदार्थोंमें राग, अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष पैदा करती है। तथा मन भी इन्हींके कारण तरह २ के विचारमें उलझा रहता है। कैसे धन कमाऊं, कैसा काम करूं, कैसे उनको प्रसन्न करूं, कैसे उसको दूर करूं, उसने अपमान किया था कैसे बदला लूं, क्या मायाचार करूं जो बहुत धन आवे व इष्ट वस्तु मिल सके। क्रोध, मान, माया सम्बंधी अनेक विचारोंमें मन फंसजाता है।

मिथ्यादृष्टीकी श्रद्धा तो विषय सुखमें रहती है इससे उसका उपयोग तो इन छहों द्वारोंसे राग द्वेष मोह सहित वर्तन करता रहता है। सम्यग्दृष्टीकी श्रद्धा विषय–सुखसे दूर होगई है तथापि जहांतक अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है तबतक वह गृहस्थी होता है। तब कषायके उदयवश वह विषयभोगोंमें वर्तता है व मनसे नानाप्रकारके इष्ट पदार्थोंके लाभका व बाधक कारणोंके नाशका विचार भी करता है। तथापि आसक्ति नहीं होनेसे वह सन्तोष रखता है। कर्मके उदयसे प्राप्त विषयोंको भोग लेता है। इस कारण वह अपना उपयोग उन छहों द्रव्योंसे हटाकर जब चाहे तब अपने शुद्धात्माके स्वरूपके मनमें या अनुभवमें जोड़ सकता है। परिग्रहके सम्बन्ध होनेसे उनकी चिंता आजाती है तब शीघ्र ही परिग्रह सम्बन्धी कार्योंमें लग जाता है। ज्ञान वैराग्यकी शक्ति रखता हुआ भी वह अधिक आत्मध्यान नहीं कर सकता है। इसलिये वह श्रावक देशव्रतोंको धारकर इच्छा निरोधके लिये त्याग करता जाता है। सातवीं प्रतिमामें ब्रह्मचारी होजाता है। फिर आरम्भ त्याग करके, परिग्रह त्याग करके, अनुमति

त्याग करके, उद्दिष्टहार त्याग करके क्षुल्लक ऐलक होजाता है।

जैसे २ इन्द्रियोंका व मनका विषय सम्बन्धी व्यवहार घटता जाता है वैसे २ आत्मा अपने भीतर रमण करता हुआ अपने ही स्वभावको प्रगट करता जाता है। जब प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय बिलकुल नहीं रहता है तब वह निर्ग्रन्थ संयमी होजाता है। तब तो पूर्ण वैराग्यवान होकर आत्मध्यानमें ऐसा उद्युक्त रहता है कि अंतर्मुहूर्तसे अधिक अपने स्वरूपके बाहर रहता ही नहीं। आजकल साधुओंके प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत दो गुणस्थान होते हैं। दोनोंका काल अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है। इसीलिये पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशमें कहा है-

यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥ ३८॥

भावार्थ-जैसे २ सुगमतासे प्राप्त इन्द्रियोंके विषयोंके भीतर रूचि घटती जाती है वैसे वैसे अपने स्वसंवेदनमें उत्तम आत्माका तत्व आता जाता है।

निर्विकारता परमात्मापद प्रकाशक है।

मणवयणकायजोया जइणो जइ जंति णिव्वियारत्तं।
तो पयडइ अप्पाणं अप्पा परमप्पयसरूवं॥ ३९॥

अन्वयार्थ-(जइ) जब (जइणो) यतिके (मणवयणकाय-जोया) मन वचन काययोग (णिव्वियारत्तं जंति) निर्विकारभावको प्राप्त होजाते हैं (तो) तब (अप्पा) आत्मा (अप्पाणं) अपने (परमप्पयसरूवं) परमात्मस्वरूपको (पयडइ) प्रगट कर लेता है।

भावार्थ-जहां तक कषायोंका तीव्र उदय होता है वहां तक मन, वचन, कायका वर्तन विकार सहित होता है। जब अति मंद उदय होजाता है तब योगोंमें निर्विकारता प्राप्त होजाती है। प्रमादका रहना ही विकार है।

छठे प्रमत्तगुणस्थान तक विकारता अर्थात् चंचलता अर्थात् अपने आत्माके स्वरूपसे बाहर रागद्वेष पूर्वक भ्रमणता रहती है। सातवेंसे यह चंचलता मिट जाती है। ध्यानस्थ अवस्था होजाती है, उपशम श्रेणीके ८ से ११ तकके चार गुणस्थानोंमें कषायोंका उपशम होता है। क्षपकश्रेणीके आठ, नौ, दश, बारह इन चार गुणस्थानोंके कषायका नाश होकर निर्विकारता पूर्ण प्राप्त होजाती है, इसी हेतुसे बारहवें गुणस्थानमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय तीन घातीय कर्मोंका नाश होकर परमात्माके स्वरूपका प्रकाश होजाता है।

वीतरागताके प्राप्त करनेके अभ्यासीको उचित है कि मन, वचन, कायका विकार सहित वर्तन रोके। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी तत्व विचारमें मनको, धर्मचर्चामें वचनको, आत्माके ध्यानमें आसनसे निश्चल बिठाकर तनको लगाये रखता है। गृहस्थावस्थामें न्यायपूर्वक आवश्यक कार्योंमें मन, वचन कायको जोड़ते हुये भी कार्य होजानेपर फिर तत्व विचारमें आजाता है। आसक्तिपूर्वक मन, वचन, कायका वर्तन पर कार्योंमें नहीं रखता है। जगतके प्राणियोंको कष्ट पहुंचे ऐसा दुष्ट वर्तन ज्ञानीका नहीं होता है। कभी२ अन्यायीको न्यायपथपर लानेके लिये उसे पीड़ा देनी पड़ती है परन्तु जैसे ही वह न्यायपथको स्वीकार कर लेता है वह उसका मित्र होजाता है।

प्रशम (शांत भाव), अनुकम्पा (प्राणी मात्रपर दया), संवेग (धर्मानुराग व संसारसे वैराग्य), अस्तित्व (आत्मामें पूर्ण श्रद्धा) ये चार गुण हरएक सम्यक्तीके भीतर रहते हैं। इन्हींके कारण योगोंका वर्तन निर्विकार होता जाता है और अपना परमात्म पद निकट आता जाता है। इष्टोपदेशमें आत्मध्यानके अभ्यासीकी दशा बताई है—

निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥ ३९ ॥

भावार्थ—योगी सर्व जगतको इन्द्रजालके समान एक खेल देखता है, केवल आत्मानुभवका प्रेमी रहता है। दूसरे कार्योंमें जाना पड़े तो जाता है फिर पीछे पश्चात्ताप करता है कि कर्मोदयसे जाना पड़ा, यह कर्म रोग कब मिटे।

संवर व निर्जराका उपाय ।

मणवयणकायरोहे रुज्झइ कम्माण आसवो राइणं ।
चिरबद्धइ गलइ सइं फलरहियं जाइ जोईणं ॥३१॥

अन्वयार्थ—(जोईणं) योगीके (मणवयणकाय रोहे) मन, वचन, कायके रुकनेपर (राइणं) निश्चयसे (कम्माण आसवो रुज्झइ) कर्मका आस्रव रुक जाता है। तथा (चिरबद्धइ) दीर्घकालमें बांधे हुए कर्म (फलरहियं) विना फल दिये हुए (जाइ जोईणं) स्वयं गल जाते हैं।

भावार्थ—मन, वचन, कायके हलन चलनसे आत्माके प्रदेश सकम्प होते हैं तब योगशक्ति कर्मोंको खींचकर बांधती है, उनके

ठहर जानेपर कर्मोंका आना व बंधना बिलकुल नहीं होता है और पूर्वबद्ध कर्मोंकी अविपाक निर्जरा होजाती है। ऐसा पूर्ण संवर चौदहवें अयोग गुणस्थानमें होता है तब ही पूर्ण निर्जरा होती है और यह आत्मा सिद्ध भगवान होजाता है। इसके पहले गुणस्थानोंमें भी चौथे अविरत सम्यक्त गुणस्थानसे लेकर संवरपूर्वक निर्जरा होती रहती है; जितना२ कषायका उपशम होता जाता है उतना२ कर्म प्रकृतियोंका बन्ध होता है। जिनका बन्ध पहले होता था अब नहीं होता है उनका संवर जानना योग्य है। जैसे मिथ्यात्व अपेक्षासे सासादनमें १६ का संवर हुआ।

तीसरे या चौथेमें सासादनमें बन्धने योग्य २५ का संवर भी होजाता है। कुल ४१ प्रकृतिका संवर होता है। दशवें सूक्ष्मसांपरायमें मोह व आयुको छोड़कर छः कर्मोंकी जितनी प्रकृतियोंका बंध होता था, ग्यारहवेंमें नहीं होता है, केवल सातावेदनीयका आश्रव होता है। आत्मध्यानके अभ्याससे मन वचन कायोंकी स्थिरता जितनी होती है और निर्विकारता पैदा होती है उससे आयु सिवाय नवीन बंध प्राप्त सर्व कर्मोंमें स्थिति कम पड़ती है व पाप कर्मोंमें अनुभाग कम पड़ता है। तथा वीतरागताके प्रतापसे पहले बांधे कर्मोंकी स्थिति घटती है, पाप कर्मोंका अनुभाग घटता है, कर्म शीघ्र नाश होजाते हैं। कितने ही कर्म विना फल दिये झड जाते हैं।

योगीको उचित है कि बुद्धिपूर्वक मन, वचन, कायोंको रोककर स्थिर बैठे और आसन जमाकर उपयोगको परसे छुटा कर निश्चय

नयके सहारे अपने शुद्धात्माके पास लाकर उसीमें इस तरह डुबो दे जैसे लवणकी डलीको पानीमें डुबो देते हैं। वह डली स्वयं पानीरूप होजाती है, वैसे ध्याताका भाव ध्येयके साथ एकमेक होजाता है और स्वानुभव प्रगट होजाता है। यही स्वानुभव संवर-पूर्वक निर्जराका कारण है। तत्वानुशासनमें कहा है:—

पश्यन्नात्मानमेकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान् ।
निरस्ताहं ममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ॥ १७८ ॥

भावार्थ—जो पर पदार्थ व भावमें अहंकार व ममकार नहीं करता हुआ एकाग्र होकर अपने आत्माका अनुभव करता है वह बंधे हुए कर्ममलको दूर करता है व भावी कर्मोंके आनेको रोकता है।

शुद्ध भाव मोक्षका कारण है ।

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो ।
उग्गतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—(जावइ) जब तक (चित्तो) मन (परदव्ववावडो) पर पदार्थोंमें बावला है (उग्गतवंपि कुणंतो) घोर तपको करता हुआ भी (भव्वो) भव्य जीव (मोक्खं) मोक्षको (ण लहइ) नहीं पाता है परन्तु (सुद्धे भावे) शुद्ध भावोंमें रत होनेसे (लहुं) शीघ्र ही (लहइ) मोक्ष पा लेता है।

भावार्थ—मोक्षमार्गपर चलनेवाले भव्य जीवको पूर्ण वैराग्य होनेकी जरूरत है, उसका ममत्व किसी भी पर पदार्थमें व उसके भावमें नहीं होना चाहिये। इन्द्रादि चक्रवर्ती आदिके भोग भी

रोगके समान दीखने चाहिये। उसको दृढ़ प्रेम अपने ही आत्माके अनुभवका व आत्मीक आनन्दका होना चाहिये। उसका सम्यक्त दृढ़ होना चाहिये। उसको यह विश्वास होना चाहिये कि व्यवहार कायक्लेश उपवासादि तप केवल मनको वैराग्यमें लानेका बाहरी साधन है। इससे कर्मोंका नाश नहीं होता है। जिस किसीका भाव शुद्धात्माके अनुभवमें तन्मय नहीं हो और अपनेको घोर तप करानेमें ही संतोषी हो तथा यह समझ बैठे कि इसी तपसे मैं कर्म काटकर मोक्ष पहुंच जाऊंगा तो वह वास्तवमें सम्यक्ती ही नहीं है, वह तो मिथ्यादृष्टी है।

ऐसा मिथ्यादृष्टी करोड़ वर्ष भी तप करे तथापि मोक्षमार्गी नहीं है। वह तो पुण्य बांधकर संसारमें ही रुलेगा। मोक्षका कारण केवल शुद्धोपयोग है, जहां निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता होती है। अशुभोपयोग हिंसादि सम्बन्धी भाव जैसे पापबंधकारक हैं वैसे तप, जप, परोपकार, भक्ति, पूजा, धर्मोपदेश सम्बन्धी रागभावरूपी शुभोपयोग पुण्यबंधकारक है।

जहां शुभ राग भी नहीं है, बुद्धिपूर्वक सर्व ही प्रकारके शुभ भावोंसे वैराग्य है, केवल शुद्धात्मामें सन्मुखता है, ऐसा शुद्धोपयोगी भव्य जीव अपने वीतराग भावोंसे प्रचुर कर्मोंका संवर व उनकी निर्जरा करता हुआ शुद्ध होता होता बहुत शीघ्र कर्मोंका क्षय कर मुक्त होजाता है। साधकको शुद्ध भावोंके लाभका ही यत्न करना योग्य है। श्री योगेन्द्राचार्य योगसारमें कहते हैं—

जो जिण सो हउ सो जि हउ एहउ भाउ णिभंतु।
मोक्खह कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥ ७४ ॥

भावार्थ–यहांपर यथार्थ बात बताई है कि यथार्थ आत्मध्यान उसे ही समझना चाहिये जहां आप आपमें लय होकर अपने आत्माका अनुभव करे, आपहीके स्वाभाविक आनंदरसका पान करे। उसीको अपने शुद्ध आत्माका स्वभाव मिट गया ऐसा कहा जायगा। क्योंकि वह सर्व परसे छूटा हुआ अपने ही निर्विकल्प अभेद स्वरूपमें तन्मय है, वही बड़ा भारी पुण्यशाली निकट भव्य जीव है जो स्वानुभवरूपी रत्नत्रयकी एकताको पालेता है।

जो कोई ध्यान करे परन्तु उस ध्यानमें अपने निज ध्येयपर न आवे, मंत्रोंपर चित्त रोके या पृथ्वी आदि धारणाओंको करे व पांच परमेष्ठीका या जिन प्रतिमाका ध्यान करे या सिद्धका स्वरूप ध्यावे, उन सब साधनोंमें ही उलझा रहे परन्तु अपने ही शुद्ध स्वतत्वपर न पहुंचे तो उसे भाग्यहीन ही कहा जायगा। क्योंकि मोक्षका साधक मुख्य एक वीतराग स्वसंवेदन भाव या शुद्धोपयोग है।

द्रव्यलिंगी मुनि ध्यानका बहुत भी अभ्यास करते हैं परन्तु मिथ्यात्व कर्मके उदयसे अपने शुद्धात्माकी प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शनको न पाते हुए स्वानुभवके सिंहासन पर नहीं पहुंच सक्ते हैं, वे भावमें बहिरात्मा ही रहते हैं। यद्यपि मन्द कषायसे ग्रैवेयिक तक जाकर अहमिंद्र होनेका पुण्य बांध लेते हैं तथापि भवसागरसे पार होनेका साधन स्वानुभवरूपी जहाजको न पाकर वे मोक्ष लाभ नहीं करसक्ते हैं।

तत्वानुशासनमें कहा है—

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावान्मोह एव सः ॥ १६९ ॥

इन्द्रिय सुखका तृषातुर रहता है। रोग, वियोग, मरणादिसे निरंतर भयभीत रहता है। ऐसा रागी, द्वेषी, जीव दर्शन मोहकी प्रबलतासे नाना प्रकार पापकर्म बांधकर निगोदमें, एकेन्द्रिय स्थावरोंमें, विकलत्रयमें, नारकमें व पंचेन्द्रिय तिर्यंचमें जन्म पाकर घोर संकट उठाता है।

जो अपने द्रव्य स्वभावको जानकर उसीका प्रेमी होजाता है वह शुद्धात्मानुभवमें रत रहनेसे स्वसमय रत है, सम्यग्दृष्टी है। वह संसार भ्रमणकारी मिथ्यात्व व अनंतानुबन्धी कषायोंका बंध ही नहीं करता है, न निगोदमें, न स्थावरोंमें, न विकलत्रयमें, न नरकमें, न तिर्यंच पंचेन्द्रियमें जन्मनेका पापकर्म बांधता है। वह शीघ्र ही संसार–सागरसे पार होनेवाला है। क्योंकि उसको आत्मीक तत्वकी गाढ़ रुचि–स्वाधीनताकी दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होगई है। जो इससे विपरीत आठ कर्मोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाले सर्व ही राग, द्वेष, मोह भावोंमें–गुणस्थान, मार्गणाओंमें व इन्द्र धरणेंद्र चक्रवर्ती आदि भौतिक पदोंमें व इन्द्रियोंके सुखोंमें मोह करता है, आसक्ति रखता है, स्वसुखका प्रेमी नहीं है, वह पर समय रत है। वह संसारकी कीचसे कभी निकल नहीं सक्ता है। इष्टोपदेशमें कहा है—

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत्॥ २६॥

भावार्थ–जो ममतावान जीव है वह बन्धता है, जो मोह रहित ज्ञानी जीव है वह कर्मोंसे छूटता है। इसलिये सर्व प्रकार उद्यम करके ममता रहित हो वैराग्य भाव धार शुद्धात्माकी भावना करनी चाहिये।

अज्ञानी रागी द्वेषी रहता है।

रूसइ तूसइ णिच्चं इन्दियविसयेहिं संगओ मूढो ।

सकसाओ अण्णाणी णाणी एदो दु विवरीदो ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ–(अण्णाणी) अज्ञानी जीव (इन्दियविसयेहिं संगओ मूढो) इन्द्रियोंके विषयोंकी संगतिसे मूढ होकर (सकसाओ) कषायोंके रङ्गमें रङ्गा हुआ (णिच्चं) सदाही (रूसइ तूसइ) रोष भाव या हर्ष भाव करता है (णाणी) सम्यग्ज्ञानी (एदो दु विवरीदो) इस बातसे विपरीत वर्तन करता है ।

भावार्थ–अज्ञानी मिथ्यादृष्टीकी गाढ़ रुचि पन्चेंद्रियोंके विषय भोगोंकी रहती है। उसको अतीन्द्रिय सुखका श्रद्धान नहीं है अतएव वह तृष्णातुर होकर भोग्य पदार्थोंके संग्रहमें तीव्र माया व लोभसे वर्तन करता है जिनसे भोग्य पदार्थोंके लाभमें या विनाशमें बाधा होती जानता है, उनसे क्रोध करता है। इष्ट विषयोंके लाभमें अपनेको बड़ा मानके अभिमान करता है या घर पहुंचाए जानेपर शत्रुता बांध लेता है। बदला लेनेका उपाय किया करता है। इसतरह कभी हर्ष, कभी विषाद, कभी द्वेष भावोंमें उलझा रहता है। इष्ट विषयोंके वियोगमें महान शोकित या दुःखित होजाता है। तीव्र रागद्वेष मोहसे वह अज्ञानी तीव्र कर्म बांध कर भव वनमें भटका करता है, कभी भी शांतिको नहीं पाता है। इसके विरुद्ध सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव अतीन्द्रिय सुखका प्रेमी होता है। गृहस्थावस्थामें इष्ट भोग्य सामग्रीके होनेपर अभिमान नहीं करता है, न उन्मत्त होता है। यह पुण्यका वृक्ष फला है।

ये विषय सब क्षणभंगुर हैं। इनके रहनेका वह हर्ष नहीं मानता है। यदि इष्ट विषयोंका वियोग होजाता है तो अपने पापके उदयको विचार शोक नहीं करता है। यदि कोई इष्ट विषयोंमें बाधा पहुंचाता है तो उस पर द्वेषभाव नहीं करता है। केवल नीति मार्गको विचार कर उसको शिक्षा देता है। जिससे वह अन्याय न करे। जब वह नीतिमार्ग पर आजाता है तब उससे प्रीति कर लेता है। ज्ञानीके हर्ष विषाद द्वेष बहुत अल्प होता है, आसक्तिपूर्वक अज्ञानीके समान नहीं होता है। बाहरमें तो दीखता है कि ज्ञानी व अज्ञानीका वर्तन एकसा है परन्तु परिणामोंमें बहुत अन्तर है।

ज्ञानीके भीतर ज्ञान वैराग्य है, अज्ञानीके भीतर तीव्र मिथ्यात्व व विषयानुराग है। इस लिये ज्ञानी बहुत अल्प कर्म बंध करता है। संसार भ्रमणकारी बंध अज्ञानीके होता है। ज्ञानीके प्राप्त भोगोंमें भी वियोगबुद्धि है, अनागतकी वांछा नहीं है। जब कि अज्ञानीके प्राप्त भोगोंके संयोगमें तीव्र राग है व आगामी विशेष भोगोंकी तृष्णा है।

समयसारमें श्री कुंदकुंद महाराज कहते हैं—

उप्पण्णोदयभोगे विओगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्सय उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥ २२८ ॥

भावार्थ—कर्मोंके उदयसे प्राप्त विषयभोगोंमें भी ज्ञानीके सदा ही वैराग्य भाव रहता है। वह आगामी पुण्यके उदयकी व उससे प्राप्त भोगोंकी इच्छा भी नहीं रखता है। अतएव ज्ञानी जीवका परिणाम जब अनासक्त है तब अज्ञानीका आसक्त है।

ज्ञानीका विचार ।

चेयणरहिओ दीसइ णय दीसइ इत्थ चेयणासहिओ ।
तम्हा मज्झत्थोहं रूसेमि य कस्स तूसेमि ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ–आत्मध्यानी योगी विचारता है (इत्थ) यहां (चेयणरहियो) चेतना रहित स्थूल पुद्गल शरीरादि (दीसइ) दिखलाई पडता है (चेयणसहिओ) चेतना सहित जीव पदार्थ (णय दीसई) नहीं दिखलाई पडता है (तम्हा) इससे (मज्झत्थोहं) मैं मध्यस्थ हूं (कस्स) किसपर (तूसेमि) हर्ष करूं (रूसेमि) व रोष करूं ।

भावार्थ–यहां आत्मध्यानकी सिद्धिके लिये योगी अपने भावोंसे रागद्वेष भाव हटानेके लिये ऐसा विचार करता है कि पांचों इन्द्रियोंसे जितने पदार्थ ग्रहणमें आते हैं वे सब जड़ हैं। उनपर हर्ष विषाद द्वेष क्या करना । जड़को तो स्वयं ज्ञान नहीं है। यदि कोई पत्थरके खंभेको प्यार करे व उसको मारे तो खंभेपर कुछ असर नहीं होगा, आप ही वृथा क्रिया करेगा । अतएव जड़के साथ रागद्वेष करना मूर्खता है ।

जितने जीव हैं वे चेतना सहित अमूर्तीक हैं। न अपना जीव इन्द्रियोंसे जान पडता है, न दूसरोंका जीव जान पड़ता है । जब जीवोंका दर्शन ही नहीं होता है तब उन पर हर्ष व द्वेष क्या किया जाय ।' ऐसा विचार कर ज्ञानी रागद्वेष न करके समभाव रखता है। यहां निश्चय गर्भित व्यवहार दृष्टि है, क्योंकि आप तो इन्द्रियोंसे देखता है व जिनको देखता है वे जड़ व चेतन भिन्न२ हैं ।

व्यवहार दृष्टिको गौणकर जब निश्चय दृष्टिसे विचार किया जाता है तब सर्व लोकके द्रव्य भिन्न२ दीखते हैं। सर्व जीव शुद्ध दिखते हैं। पांच द्रव्य भी अपने२ स्वभावमें दिखते हैं, रागद्वेषका निमित्त कारण तो स्थूल पर्यायोंका दृश्य है। द्रव्यदृष्टिसे जब पर्यायें ही नहीं दीखती तब रागद्वेष कैसे होगा ? ज्ञानी जीव निश्चयनयका आश्रय लेकर रागद्वेषके विकारको ऐसा विचार करके दूर करता है।

समाधिशतकमें पूज्यपादस्वामी यही कहते हैं—

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क रुष्यामि क तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यत: ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जो कुछ यह दिखलाई पडता है वह सब अचेतन जड़ है, जो चेतन है वह दिखलाई नहीं पड़ता, फिर मैं किसपर रोष करूँ, किसपर राग करूं, इसलिये मैं रागद्वेष छोड़के मध्यस्थ ही रहता हूं।

निश्चय नयसे सर्व जीव समान हैं।

अप्पसमाणा दिट्ठा जीवा सव्वेवि तिहुअणत्थावि।
जो मज्झत्थो जोई ण य तूसइ णेय रूसेइ ॥ ३७ ॥
जंमणमरणविमुक्का अप्पपएसेहिं सव्वसामण्णा।
सगुणेहि सव्वसरिसा णाणमया णिच्छयणएण ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(णिच्छयणएण) निश्चय नयसे (सव्वेवि तिहुअणत्थावि) सर्व ही तीन लोकमें रहनेवाले (जीवा) जीव (अप्पासमाणा) अपने ही शुद्ध आत्माके समान (जंमणमरणविमुक्का) जन्म मरणसे

रहित (अदपएसेहिं सव्वसामण्णा) आत्माके प्रदेशोंकी अपेक्षा सर्व सामान्य (सगुणेहिं सव्वसरिसा) आत्मीक गुणोंमें सर्व बराबर (णाणमया) ज्ञान मई (दिट्ठा) देखे जाते हैं अतएव (जो मज्झत्थो जोइ) जो कोई वीतरागी योगी है वह (ण य तूसइ णेय रूसेई) न तो हर्ष करता है न रोष करता है ।

भावार्थ—अशुद्ध दृष्टिसे या पर्याय दृष्टिसे या व्यवहार दृष्टिसे या कर्म सापेक्ष दृष्टिसे देखते हुए यह जगत विचित्र दीखता है । नाना प्रकारके जीव नाना रूप दीखते हैं। इस दृष्टिसे देखते हुए जिन चेतन व अचेतन पदार्थोंके साथ अपना कोई स्वार्थ दिखता है उनके साथ राग होजाता है, जिनसे अपने स्वार्थमें हानि पड़ती है उनसे द्वेष होजाता है । देखनेवाला भी अपनेको अशुद्ध देखता है, रागी देखता है, पदार्थ भी रागद्वेषके निमित्त होजाते हैं ।

व्यवहारनयसे ही पूज्य पूजकका भेद देखता है । श्री अरहंत व सिद्ध भगवान् पूज्य हैं, मैं पूजा करनेवाला हूं, वे बड़े हैं, मैं छोटा हूं, बस, शुभ राग भाव होजाता है । रागद्वेष भावोंको दूरकर वीतराग या मध्यस्थ भाव पानेका उपाय यही है कि योगीको व्यवहारनयकी दृष्टिसे देखना रोककर निश्चयनयसे अपनेको व दूसरोंको देखना चाहिये । निश्चयनय मूल द्रव्यके स्वभावको ही देखनेवाला होता है तब सर्व ही जीव एक समान दिखलाई पड़ते हैं । संसारी सिद्धका भेद, भव्य अभव्यका भेद, स्थावर त्रसका भेद सब मिट जाता है । जैसा अपना आत्मा अजर अमर अजन्मा है वैसे ही सब आत्माएं अजर अमर अजन्मा दीखती हैं ।

जैसे अपना आत्मा असंख्यात प्रदेशोंका धारी है वैसे सर्व आत्माएं असंख्यात प्रदेशोंकी धारी हैं। जितने सामान्य अस्तित्व वस्तुत्व आदि गुण तथा जितने विशेष ज्ञान, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि गुण अपने आत्मामें हैं वैसे ही सर्व आत्माओंमें हैं। जैसे आप ज्ञानमई हैं वैसे ही सर्व ज्ञानमई हैं। सर्व ही तीन लोककी आत्माओंमें केवल सत्ताकी अपेक्षा तो भिन्नपना है परन्तु स्वरूपकी अपेक्षा कोई भिन्नपना नहीं है। जितने गुण एकमें हैं उतने गुण दूसरोंमें हैं। जैसा एक आत्माका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है वैसा ही अन्य आत्माओंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है। जैसे एकसमान जातिके चावलके दाने गिनतीमें एक लाख हों, वे सब भिन्न२ हैं, तथापि स्वरूपमें सर्व समान चावल हैं। इसी तरह सर्व आत्माएं भिन्न२ सत्तामें होकर भी स्वभावसे सब समान हैं। सत्ता सर्वकी एक माननेसे सर्व विश्वका एक अखंड आत्मा मानना पड़ेगा तब अमूर्तीक द्रव्यका खंड होना असंभव होनेसे सर्व ही एक समान पर्याय द्वारा भी रहेंगे। तब व्यवहारका सर्वथा लोप करना पड़ेगा। एक समयमें संसारी व सिद्ध जीव भी नहीं दिखलाई पड़ेंगे। सो ऐसा प्रत्यक्षसे असंभव है, क्योंकि एक ही समयमें कोई क्रोध करता है, कोई मान करता है, कोई सुख भोगता है, कोई दुःख भोगता है। सत्ता एक माननेसे सर्व बन्ध मोक्षकी कल्पना बिलकुल मिट जायगी।

सत्‌गुण सर्व आत्माओंमें व्यापक है। इसलिये सामान्य या सदृश अस्तित्व या महासत्ता रूप एक अस्तित्व कह सक्ते हैं परन्तु अपने २ भिन्न स्वरूप अस्तित्वका लोप नहीं किया जासक्ता है।

अतएव नाना जीवोंकी नाना सत्ता है तौ भी सर्व स्वभावमें समान हैं यही यथार्थ बात है। इस तरह निश्चयनयसे देखते हुए समभाव जागृत होजाता है, रागद्वेष मोहका निमित्त मिट जाता है। स्वानुभव रूप ध्यानकी सिद्धिके लिये निश्चयनयकी दृष्टि परम उपयोगी है। योगीको इसी दृष्टिसे देखनेका अभ्यास करना योग्य है।

योगेन्द्रदेव योगसारमें कहते हैं—

सव्वे जीवा णाणमया जो समभाव मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ ॥ ९८ ॥

भावार्थ—सर्व जीव ज्ञानमई है, समान है, ऐसा समझकर जो समभावका मनन करता है, उसीके सच्ची सामायिक है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है।

यथार्थ ज्ञान ध्यानका कारण है।

इय एयं जो बुज्झइ वत्थुसहावं णएहिं दोहिंपि।
तस्स मणो डहुलिज्जइ ण रायदोसेहि मोहेहिं ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(जो) जो कोई ज्ञानी (दोहिंपि णएहिं) दोनों ही व्यवहार और निश्चयनयसे (एयं) इस प्रकार (इय) इस (वत्थुसहावं) वस्तुके स्वभावको (बुज्झइ) समझता है (तस्स मणो) उसका मन (रायदोसेहिं मोहेहिं) रागद्वेष मोह भावोंसे (ण डहुलिज्जइ) नहीं लोभायमान होता है।

भावार्थ—आत्मा और अनात्माके स्वभावको व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंसे जाने विना ठीकर समाधान नहीं होता है।

जितने सचेतन प्राणी जगतमें दिखाई पड़ते हैं वे सब जीव और पुद्गलसे मिले हुए दीखते हैं। जितने पुद्गलके स्कंध हैं वे बदलते हुए व परिणमन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। पर्याय दृष्टिसे या व्यवहार नयसे इन सबकी नाना अवस्थाएं झलकती है। मुख्यतासे तो अपने आत्माको समझना है।

अपना आत्मा आठकर्मोंके संयोगमें है, इसीलिये इसके भाव-कर्म रागादि व शरीरादि नो कर्मका संयोग दिखता है। पहले यह भी जानना चाहिये कि वे आठकर्म किस तरह बंधते हैं व कैसे रोके जासक्ते हैं व इनकी निर्जरा कैसे की जासक्ती है व इनके छूटने पर आत्माकी मोक्षमें क्या दशा रहती है. जीवादि सात तत्वोंका ज्ञान भी जरूरी है। व्यवहार नयसे यह तत्वज्ञान हमारी अवस्थाको बतानेमें हमें कार्यकारी होगा। निश्चननयसे भी हमें जानना चाहिये कि यह मेरा आत्मा पुद्गलादिसे बिलकुल भिन्न है, यह तो सिद्ध भगवानके समान शुद्ध है, निरंजन है, निर्विकार है, परमानन्दमई है।

जब निश्चयनयसे अपना परमात्मस्वभाव अपनी श्रद्धामें जम जायगा तब उसीकी प्रगटताकी दृढ़ रुचि होजायगी, बाधक कर्मोंके क्षयका गाढ़ प्रेम होजायगा तब उसका मोह क्षणिक संसारकी पर्यायोंसे व इन्द्रियभोगोंसे नहीं रहेगा, तब मनोज्ञ विषयोंमें राग व अमनोज्ञ विषयोंमें द्वेषभाव नहीं रहेगा। रागद्वेष मोह उसके मनको क्षोभित नहीं करेंगे। वहां इष्ट अनिष्ट पदार्थोंके संयोग वियोगमें कर्म-कृत विपाक विचारकर समदर्शी रहेगा। अतीन्द्रिय सुखका प्रेमी भी

होते हुए आगामी विषयभोगोंकी लालसा नहीं करेगा। जिसका भाव स्वभावमें आसक्त होजायगा वह भीतर परम वैरागी होजायगा।

रागद्वेष मोह बंधके कारण हैं। इनसे छूटनेका उपाय निश्चय-नय और व्यवहारनयसे अपने ही आत्मतत्वका यथार्थ ज्ञान है। यदि एक ही नयसे जानेंगे तो ज्ञान ठीक न होगा। वस्त्र मलीन है, यह मैलके संयोगसे मैला है, ऐसा जानना भी जरूरी है। यही व्यवहारनयका विषय है। कपड़ा स्वभावसे उज्वल है, मलीन नहीं है, मलीनता धुएंकी या मिट्टीकी है। दोनों बिलकुल भिन्न२ हैं। यह ज्ञान भी जरूरी है। यह निश्चयनयका विषय है। तब ही यह परिणाम होंगे कि कपड़ेका मैल छुड़ाकर उसे उज्वल ही कर देना चाहिये। इसी तरह मेरी आत्मा कर्मोंके संयोगसे अशुद्ध है, स्वभावसे शुद्ध है। ऐसा जानने ही पर शुद्ध स्वभावके प्रकाशका पुरुषार्थ हो सकेगा।

पुरुषार्थसिद्धयुपायमें श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं:—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः

प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो कोई यथार्थ तत्वकी दृष्टिसे व्यवहार और निश्चय दोनोंके स्वरूपको ठीक ठीक जानता है वही वीतरागी होता है और वही शिष्य भगवानकी वाणीके पूर्ण फलको पाता है अर्थात् वही ठीक ठीक जिनवाणीका भेद पाता है। वह भेद विज्ञानी होकर स्वानुभवके अभ्याससे केवलज्ञानी होजाता है।
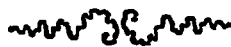
वीतरागी ही आत्माका दर्शन करता है।

रायदोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥४०॥

अन्वयार्थ-(जस्स) जिस योगीका (मणसलिलम्) मनरूपी जल (रायदोसादीहि य) रागद्वेषादि विकारोंसे (णेव डहुलिज्जइ) नहीं चलायमान होता है (सो) वही योगी (णियतच्चं) अपने निर्विकल्प शुद्ध आत्माके स्वरूपको (पिच्छइ) अनुभव कर लेता है, देख लेता है (तस्स विवरीओ) इसके विपरीत जो रागी, द्वेषी, मोही है वह (ण हु पिच्छइ) कभी नहीं देख सक्ता है।

भावार्थ-जैसे निर्मल पानीमें पवनके वेगसे तरंगें उठती हों तो पानीमें अपना मुख व पानीके भीतरके पदार्थ नहीं दीखेंगे, जब पानी थिर होगा तब दीखेंगे। इसी तरह मनके चंचल होनेपर रागद्वेष मोहके कारण डावांडोल होनेपर मनके विकल्प नहीं मिटेंगे। जब वीतरागता मनके भीतर आजायगी और मन संसार शरीर भोगोंसे वैराग्यवान होजायगा तब मन स्व रूपमें थिर होसकेगा।

मनकी थिरताका भाव यह है कि उपयोग वीतरागी होकर अपने ही आत्माकी ओर सन्मुख है, इसीको स्वानुभव या आत्माका दर्शन कहते हैं। मिथ्यादृष्टिका प्रेम सांसारिक सुखपर रहता है, वह इसीलिये पंचेंद्रियोंके विषयोंका भोगी होकर निरंतर रागद्वेष मोहमें उलझा रहता है। सम्यक्दृष्टीका प्रेम निज आत्मीक सुखपर होता है, विषय जनित सुखको वह दुःखरूप विकार समझता है। इसी भावसे वह पन्चेंद्रियके विषयोंका रागी नहीं रहता है।

इसकी रुचि इतनी उज्वल होती है कि वह इन्द्र व चक्रवर्ती पदके भोगोंको भी त्यागने योग्य समझता है। अतएव उसका उपयोग शीघ्र ही स्वस्वरूपमें तन्मय होजाता है। जैसे निर्मल दर्पणमें मुख दीखता है वैसे निर्मल आत्माके परिणाममें ही अपना निर्मल स्वभाव दीखता है। **समाधिशतकमें भी कहा है—**

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः ॥ ३९ ॥

भावार्थ—जिस ज्ञानीका मन रूपी जल रागद्वेषादिकी तरंगोंसे चंचल नहीं है वही आत्माके स्वभावका अनुभव करसक्ता है, दूसरा जन नहीं कर सक्ता है।

स्थिर मन होनेपर आत्मदर्शन होता है।

सरसलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियंपि जह रयणं।
मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (सरसलिले) सरोवरके पानीके (थिरभूए) निश्चल होनेपर (णिवडियंपि) सरोवरके भीतर पडा हुआ भी (रयणं) रतन (णिरु दीसइ) निश्चयसे दिखलाई पडता है (तह) वैसे (मणसलिले) मन रूपी पानीके (थिरभूए) स्थिर होनेपर (विमले) निर्मल भावमें (अप्पा) अपना आत्मा (दीसइ) दिख जाता है।

भावार्थ—किसी सरोवरके भीतर रतन पड़ा हो, उसका पानी पवनादिके कारण क्षोभित हो तौ वह रतन नहीं दिखता है। परन्तु

यदि उसमें तरंगें न हों, पानी थिर हो, तो उस निर्मल जलमें रतन भले प्रकार दिख जाता है। इसी तरह मनका स्वभाव संकल्प विकल्प रूप डंवाडोल है। जब यह ध्यानमें एकाग्र होजाता है, स्थिर होजाता है, अर्थात् रागद्वेष मोहके विकारोंसे रहित होकर वीतरागी व शुद्ध होजाता है तब उस शुद्धोपयोगके भीतर अपने ही शुद्धात्माका दर्शन या अनुभव होता है।

ध्याताको उचित है कि व्यवहारनयको गौणकर ध्यानमें न लेकर निश्चयनयके द्वारा सर्व जगतकी व अपनी आत्माओंको देखे, तब आप भी शुद्ध अपनेको दीख पड़ेगा व सर्व ही आत्माएं एक समान शुद्ध दीख पड़ेंगी। राग द्वेष मोह दूर होजायगा, तब उपयोगको अन्य सब विश्वकी आत्माओंसे भी हटाकर एक अपने ही आत्माके शुद्ध स्वभावमें एकाग्र करना चाहिये, शुद्धोपयोगको प्राप्त करना चाहिये। जहां शुद्धोपयोग है वहीं अपना स्वानुभव है, वहीं आत्माका ध्यान है।

निश्चलता ही चारित्र है, इस स्थिरतामें सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान भी गर्भित है। स्वानुभवमें रत्नत्रयकी एकता है। यही निश्चय मोक्षमार्ग है। तत्वानुशासनमें कहा है:—

यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकंपते।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति॥ १७१॥

भावार्थ—जैसे पवन रहित स्थानमें रखा हुआ दीपक हिलता नहीं है—निश्चल रहता है, वैसे ही योगी अपने स्वरूपमें ठहरा हुआ एकाग्रभावको नहीं त्यागता है।

निर्मल भावसे चमत्कार प्रगट होता है ।

दिट्ठे विमलसहावे णियतच्चे इन्दियत्थपरिचत्ते ।
जायइ जोइस्स फुडं अमाणसत्तं खणद्धेण ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(इन्दियत्थपरिचत्ते) इन्द्रियोंके विषयोंसे राग दूर कर लेनेपर (विमल सहावे) वीतराग स्वभावके भीतर (णियतच्चे दिट्ठे) जब अपना आत्मतत्व दिखने लगता है तब (जोइस्स) योगीके भीतर (खणद्धेण) क्षण मात्रमें (अमाणसत्तं) मनुष्यसे न करनेयोग्य ऋद्धियोंका चमत्कार (फुडं जायइ) प्रगट होजाता है ।

भावार्थ—आत्माके ध्यानमें अपूर्व शक्ति है । शुद्ध वीतराग भावसे ध्यानका अभ्यास करते हुए आत्माकी शक्तियोंका विकास होने लगता है । तब योगीके भीतर अपूर्व काम करनेकी योग्यता प्रगट होजाती है, जो काम साधारण मानवोंसे नहीं होसक्ते । जैसे शरीरकी ज्योतिका बढ़ना, बैठे बैठे कहीं उड़कर चले जाना, जलमें थलके समान चलना, एक वाक्य सुनकर सर्व ग्रन्थका भाव समझ जाना, शरीरके स्पर्श मात्रसे रोगीके रोग दूर होजाना ।

जिस वनमें योगी ध्यान करे वहांपर फल फूल फूलजाना, जाति विरोधी जीवोंका विरोध मिट जाना आदि अनेक जातिकी ऋद्धियें प्रगट होती हैं—अवधि ज्ञान व मनःपर्यय ज्ञानका होजाना, द्वादशांग वाणीका ज्ञान झलक जाना । यदि लगातार वज्रवृषभ-नाराच संहननधारीका उपयोग आत्माके ध्यानमें अंतर्मुहूर्त तक निश्चल होजावे तो उसको केवलज्ञान तक प्राप्त होसक्ता है ।

आत्माके भीतर परमात्मा पद विद्यमान है, वह घातीय कर्मोंसे छिपा है। जब आत्माके ध्यानसे घातीय कर्म क्षय होजाते हैं तब वह परमात्मा पद प्रगट होजाता है। तत्त्वानुशासनमें भी कहा है-

सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतं।
धारणासौष्ठवाद्ध्यानं प्रत्ययानपि पश्यति ॥ ८७ ॥

भावार्थ—योग्य गुरुके उपदेशसे जो निरन्तर भलेप्रकार आत्माके ध्यानका अभ्यास करता है उसकी धारणा जब उत्तम होजाती है तब ध्यानके द्वारा होनेवाले चमत्कारोंका भी प्रकाश होजाता है। वास्तवमें ध्यान सर्व सिद्धियोंका कारण है। साधकको चमत्कारोंकी इच्छासे ध्यान नहीं करना चाहिये।

निज तत्वकी भावना करो।

णाणमयं णियतच्चं मिलिलय सव्वेवि परगया भावा।
तं छंडिय भावेज्जो सुद्धसहावं णियप्पाणं ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(णाणमयं णियतच्चं) ज्ञानमई आत्माका अपना स्वभाव (सव्वेवि परगया भावा मिलिय) और सर्वही परपदार्थ सम्बन्धी भाव मिले हुए हैं (तं छंडिय) उनमें सर्व परभावोंको छोड़कर (सुद्धसहावं णियप्पाणं) शुद्ध स्वभावमई अपने ही आत्माकी (भावेज्जो) भावना करनी योग्य है।

भावार्थ—ध्याताको भेद विज्ञान पूर्वक ध्यानका अभ्यास करना योग्य है। अपने आत्माके साथ औदारिक, तैजस कार्मण तीन शरी-

रोंका संयोग है, वे दूधपानीकी तरह आत्माके साथ मिल रहे हैं। इनके ही संयोगसे सर्व प्रकारके राग, द्वेष, मोह, भाव होते हैं। शुभ व अशुभ विचार होते हैं। ज्ञानी इन सबको अपने आत्माके ज्ञानमई शुद्ध स्वभावसे पृथक् जाने।

ज्ञानमें नाना प्रकार जानने योग्य ज्ञेय पदार्थ झलकते हैं उनको भी अपनेसे भिन्न जाने। एक अपने शुद्ध निरंजन ज्ञायक भावको ही आप जाने। तब सर्वही पर द्रव्य परभावसे उदासीन होजावे यहां तक कि पंचपरमेष्ठीको भी परतत्व जानकर उनका भी राग छोड़े। केवल आपसे आपको ही जाने देखे अनुभवे। भावना ही स्वानुभवकी माता है। ध्याताको एक अपने ही आत्माके ही गुणोंको बारबार विचारना चाहिये। विचारते २ जब उपयोग स्थिर होजायगा तब स्वानुभव पैदा होजायगा।

समयसार कलशमें कहा है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां।
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः॥ ४–६ ।

भावार्थ-जो भेदविज्ञानके बलसे सर्व अन्य द्रव्योंसे दूर होकर अपनी ही आत्माकी महिमामें रत होते हैं, निश्चलतासे जम जाते हैं तब उनको अवश्य शुद्ध आत्मतत्वका लाभ होजाता है। इस शुद्धात्मानुभवके प्रतापसे ही कर्मोंसे सदाके लिये मुक्ति होती है।

वीतरागी होनेका उपाय ।

जो अप्पाणं झायदि संवेयणचेयणाइउवजुत्तं ।
सो हवइ वीयराओ णिम्मलरयणत्तओ साहू ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ-(जो) जो कोई योगी (संवेयणचेयणाइउवजुत्तं) स्वसंवेदन ज्ञानमें उपयुक्त होकर (अप्पाणं झायदि) अपने आत्माको ध्याता है (सो साहू) वह साधु (णिम्मलरयणत्तओ) शुद्ध रत्नत्रयमई होता हुआ (वीयराओ हवइ) वीतरागी होजाता है ।

भावार्थ-जहां आपसे आपको ही वेदा जावे, आपसे ही आपका ज्ञान किया जावे, आप ही ज्ञाता व आप ही ज्ञेय हो, आप ही ध्याता व आप ही ध्येय हो, ज्ञान चेतनामई भाव हो, उसको स्वसंवेदन ज्ञान कहते हैं, उस स्वसंवेदन ज्ञानमें लवलीन होना ही अपने आत्माका ध्यान है, अपने स्वरूपमें एकाग्र होना है। इस शुद्ध आत्माकी परिणतिमें निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्र तीनों ही रत्नत्रय गर्भित हैं ।

वही स्वानुभव वास्तवमें मोक्षका मार्ग है जो पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करता है व नवीन कर्मोंका संवर करता है । इसी स्वानुभवसे मोह कर्मका अनुभाग सूखता जाता है । तद्भव मोक्षगामी जीव अति मंद कषायके रहनेपर क्षपकश्रेणीपर आरूढ होजाता है, कषायोंका क्षय करता चला जाता है, क्षीण मोह गुणस्थानमें वीतरागी होजाता है, फिर कभी रागका उदय उसको नहीं होगा ।

सम्यक्दृष्टी चौथे गुणस्थानमें होता है, तबही वह श्रद्धा व

ज्ञानकी अपेक्षा वीतरागी होजाता है। परन्तु चारित्रमें जितना अंश जहां कषायोंका उदय है उतना वह सरागी है। ज्ञान वैराग्यसे पूर्ण होनेपर भी गृहस्थ सम्यग्दृष्टिको राग भावोंकी प्रेरणासे गृहस्थ संबन्धी भोग व कार्य करने पड़ते हैं।

जब प्रत्याख्यानावरणका उपशम होजाता है, उदय नहीं रहता है तब वह वीतरागताका साधक निमित्त मिलाता है, परिग्रहत्यागी निर्ग्रंथ साधु होजाता है, स्वाध्याय व ध्यानका अभ्यास बढ़ाते हुए व समभावकी शक्तिको प्रकाश करते हुए वह साधु प्रमत्त व अप्रमत्त गुणस्थानमें भी वीतरागी होता है, बुद्धिपूर्वक रागद्वेषसे बचता रहता है, स्वानुभवके अभ्यासमें प्रवृत्ति विशेष करता है। उसीसे एक अंतमुहूर्तसे अधिक अपने स्वरूपसे बाहर विहार नहीं करता है।

तत्वानुशासनमें कहा है—

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशं ॥ १६१ ॥
स्वपरज्ञप्तिरूपत्वान्न तस्य कारणान्तरं।
ततश्चिंतां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यतां ॥ १६२ ॥

भावार्थ-जिस योगीके भीतर आप ही अपने द्वारा अपने आपका वेदन हो, आप ही वेदक हो, आप ही वेद्य हो, उसीको स्वसंवेदन या स्वानुभव या सम्यग्दर्शन कहा गया है। आत्मा स्वपर प्रकाशक स्वभावसे ही वर्तन करे। अन्य कारणोंसे उदास होजावे। मन द्वारा विचार व इन्द्रियोंके द्वारा वर्तन निरोध होजावे। वही स्वसंवेदन है। इसलिये सर्व पर भावोंकी चिन्ताको छोड़कर

योगीको उचित है कि स्वसंवेदनके द्वारा ही आत्माका अनुभव करे। यही यथार्थ आत्माका धर्मध्यान है व यही शुक्लध्यान है।

निश्चय रत्नत्रय कहां है।

दंसणणाणचरित्तं जोई तस्सेह णिच्छयं भणियं।
जो वेयइ अप्पाणं सचेयणं सुद्धभावट्ठं ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ-(जोई) हे योगी (जो) जो साधु (सुद्ध भावट्ठं) शुद्ध भावमें ठहरेहुए (सचेयणं) चेतन स्वरूप (अप्पाणं) अपने आत्माको (वेयइ) वेदता है, अनुभव करता है (तस्सेह उस साधुके (इह) इस लोकमें (णिच्छयं दंसणणाणचरित्तं) निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र (भणियं) कहा गया है।

भावार्थ-निश्चय रत्नत्रयमई आत्मा ही है। जो कोई महात्मा सम्यग्दृष्टी जीव निश्चयनयके आलम्बनसे अपने आत्माको सर्व परद्रव्योंसे, परद्रव्यके निमित्तसे महारागादि भावोंसे व गुण गुणी व्यवहाररूप भेदरूप विकल्पोंसे भिन्न श्रद्धान व ज्ञानमें लाकर उसीकी ओर एकाग्र होता है, आपसे आपमें लीन होता है, अर्थात् स्वानुभव करता है वही रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग निश्चयनयसे या वास्तविक निश्चयधर्म कहा गया है। जैसा वस्त्रके धोनेसे वस्त्र शुद्ध होता है वैसेही अपनेही आपके शुद्ध स्वभावके ध्यानसे आत्मा शुद्ध होता है। जिससे कर्मकी निर्जरा हो व संवर हो तथा परमानन्दका लाभ हो वही धर्म है, यह सब कार्य स्वानुभवमई शुद्धोपयोगके द्वारा होता

है। अतएव ध्यानीको पुरुषार्थ करके अपने शुद्ध स्वभावमें लीन होनेका यत्न करना योग्य है। समयसार कलशमें कहा है—

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया।
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्॥
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नम्।
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः॥ २०-१॥

भावार्थ—अपने आत्माका ज्ञानमय प्रकाश तबही परम निर्मल प्रगट होता है जब साधक किसी भी तरहसे उद्यम करके रत्नत्रयकी एकतामय भावसे च्युत नहीं होता है। श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि हम ऐसे अनन्त चैतन्य लक्षणके धारी अपनेही आत्माका अनुभव करते हैं। क्योंकि और कोई उपाय नहीं है जिससे मोक्षरूपी साधनकी सिद्धि की जासके।

स्वानुभव विना शुद्धात्माका लाभ नहीं।

झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो सम्वेय णियअप्पाणं।
तो ण लहइ तं सुद्धं भग्गविहीणो जहा रयणं॥ ४६॥

अन्वयार्थ-(झाणट्ठिओ हु जोई) ध्यानमें अभ्यास करनेवाला भी योगी (जइ) यदि (णियय अप्पाणं) अपने ही आत्माका (णो सम्वेय) अनुभव न करे, उसका स्वसंवेदन न करे (तो) तो (जहा) जैसे (भग्गविहीणो) भाग्य रहित प्राणी (रयणं ण लहइ) रत्नको नहीं पासक्ता है, वैसे वह (सुद्धं तं ण लहइ) शुद्ध आत्माको नहीं पासक्ता है।

भावार्थ—यहांपर यथार्थ बात बताई है कि यथार्थ आत्मध्यान उसे ही समझना चाहिये जहां आप आपमें लय होकर अपने आत्माका अनुभव करे, आपहीके स्वाभाविक आनंदरसका पान करे। उसीको अपने शुद्ध आत्माका स्वभाव मिट गया ऐसा कहा जायगा। क्योंकि वह सर्व परसे छूटा हुआ अपने ही निर्विकल्प अभेद स्वरूपमें तन्मय है, वही बड़ा भारी पुण्यशाली निकट भव्य जीव है जो स्वानुभवरूपी रत्नत्रयकी एकताको पालेता है।

जो कोई ध्यान करे परन्तु उस ध्यानमें अपने निज ध्येयपर न आवे, मंत्रोंपर चित्त रोके या पृथ्वी आदि धारणाओंको करे व पांच परमेष्ठीका या जिन प्रतिमाका ध्यान करे या सिद्धका स्वरूप ध्यावे, उन सब साधनोंमें ही उलझा रहे परन्तु [illegible] शुद्ध स्वतत्वपर न पहुंचे तो उसे भाग्यहीन ही कहा [illegible]। क्योंकि मोक्षका साधक मुख्य एक वीतराग स्वसंवेदन [illegible] शुद्धोपयोग है।

द्रव्यलिंगी मुनि ध्यानका बहुत भी [illegible] करते हैं परन्तु मिथ्यात्व कर्मके उदयसे अपने शुद्धात्माके [illegible] सम्यग्दर्शनको न पाते हुए स्वानुभवके सिंहासन [illegible] हैं, वे [illegible] बहिरात्मा ही रहते हैं। यद्यपि [illegible] अहमिंद्र होनेका पुण्य [illegible] साधन स्वानुभवरूपी [illegible]

तत्वानुशासनमें [illegible]—

समाधि[illegible]

तदा [illegible]

तदेवानुभवंश्चायमेकाग्रयं परमृच्छति ।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरं ॥ १७० ॥
तदा च परमेकाग्रयाद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥ १७२ ॥

भावार्थ-जो कोई समाधिमें स्थित हो परन्तु ज्ञान स्वरूपी अपने आत्माका अनुभव न करे तो उसके आत्मध्यान है ही नहीं वह मूर्छावान है, परभावमें लीन है वह मोही ही है । जो आत्माको ही अनुभव करता है वह उत्तम एकाग्रताको पा लेता है, उसी समय स्वाधीन अतीन्द्रिय वचन अगोचर परमानन्दका भी स्वाद पाता है तब वह ऐसी उत्तम एकाग्रताको लाभ करता है कि बाहरी पदार्थोंके रहते हुए भी उसके भीतर केवल अपने एक आत्माको अपनेमें अनुभव करते हुए और कोई पदार्थ नहीं झलकता है, उसे एक अद्वैत निज भावका ही स्वाद आता है ।

बहिरात्मा तत्वको नहीं पासक्ता ।

देहसुहे पडिबद्धो जेण य सो तेण लहइ ण हु सुद्धं ।
तच्चं विहाररहियं णिच्चं चिय झायमाणो हु ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ-(जेण देहसुहे पडिबद्धो) क्योंकि जो शरीरके सुखमें रागी है (तेण सोय) इसीलिये ऐसा जीव (णिच्चं चिय झायमाणो हु) नित्य ध्यानका अभ्यास करते हुए भी (विहार-रहियं) विचार रहित (सुद्धं तच्चं) शुद्ध तत्वको (ण हु लहइ) नहीं पासक्ता है ।

भावार्थ–द्रव्यलिंगी ग्यारह अंग नौ पूर्वतकके पाठी मुनि दूसरे भावलिंगीके समान सब जपतप ध्यान करते हैं फिर भी मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे सम्यक्त भावको नहीं पाते हुए शुद्धात्माका अनुभव नहीं कर पाते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी श्रद्धा अतीन्द्रिय सुखमें नहीं होपाती है। इन्द्रिय सुखमें उनकी रुचि बनी रहती है। मोक्षमें भी उसी जातिका अनंत सुख होगा ऐसी कल्पना रहती है। इन्द्रियसुखसे विपरीत ही सच्चा निराकुल सुख है ऐसी श्रद्धा स्वानुभवरूप नहीं होपाती है। इसलिये मन परभावोंसे मुक्त होकर अपने शुद्ध आत्माकी ओर नहीं ठहरता है।

निर्विकल्प शुद्ध तत्वका अनुभव पानेके लिये सम्यग्दर्शनकी खास आवश्यक्ता है। जबतक सम्यक्तका बाधक कर्म नहीं हो तबतक सम्यक्तका प्रकाश हो नहीं सक्ता। सम्यक्तके विना स्वरूपाचरण या स्वानुभव हो नहीं सक्ता। साधकको शरीर संबंधी सर्व विषयोंसे पूर्ण वैराग्यवान होना चाहिये। पांचों इन्द्रियोंका पूर्ण विजेता होना चाहिये। शरीरकी रक्षा मात्र करनी है क्योंकि वह संयमका बाहरी साधक है, ऐसा भाव रखके प्रास भिक्षामें संतोष करनेवाले व शरीरके सुखियापनेके भावको दूर रखनेवाले, परीषहोंके सहनेवाले संयमी साधु ही पूर्ण वैराग्य व आत्मज्ञानके प्रभावसे ऐसा धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कर पाते हैं जिससे शुद्धोपयोगमें स्थिरता देर तक रह सके। तत्वानुशासनमें कहा है–

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥ ७९ ॥

ज्ञानवैराग्यरज्जूभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रियवाजिनः॥ ७७ ॥

भावार्थ-परिग्रहका त्याग, कषायोंका विरोध, व्रतोंका धारण, मन व इन्द्रियोंका विजय ये सब सामग्री ध्यानके साधनमें आवश्यक है। जिसका मन अपने वश है वही नित्य कुमार्गमें लेजानेवाले इन्द्रियरूपी घोडोंको ज्ञान व वैराग्यकी रस्सियोंसे पकड़कर वश रखनेको समर्थ होता है।

शरीर सुखकी लालसाका जहां अभाव होगा वहीं गाढ प्रेम आत्माके अतीन्द्रिय ज्ञानानंद स्वभावका होगा। ऐसा ज्ञानी सम्यग्दृष्टी ही गृहस्थावस्थामें भी शुद्ध तत्वका दर्शन या स्वानुभव यथायोग्य कर सक्ता है।

बहिरात्मा कैसा होता है।

मुक्खो विणासरूवो चेयणपरिवज्जिओ सयादेहो।
तस्स ममत्ति कुणंतो बहिरप्पा होइ सो जीवो॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ-(मुक्खो) मूर्ख (विणासरूवो) विनाशीक (चेयणपरिवज्जिओ) चेतना रहित जड़ (देहो) शरीर (सया) सदा ही रहता है (तस्स ममत्ति कुणंतो) ऐसे शरीरके साथ ममता करता हुआ (सो जीवो) जो जीव है सो (बहिरप्पा) बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी होता है।

भावार्थ-यह शरीर ज्ञान रहित जड़ परमाणुओंसे बना हुआ है इसलिये यह जड़ है, ज्ञान रहित है, विवेक रहित है तथा यह

एक स्कंधकी अवस्था विशेष है, एक दिन छूट जानेवाला है, क्षण क्षणमें बदलता है तथा यह शरीर महा अपवित्र है, अनेक प्रकारके मलोंसे पूर्ण है, जिसका मोह ऐसे शरीरकी तरफ है व शरीरके सम्बंधमें जो पांच इन्द्रियां हैं उनके भोगमें जो लालसावान हैं, आसक्त हैं वह अंतरात्मा सम्यग्दृष्टी आत्माको परसे भिन्न ज्ञानानन्दी समझनेवाला कैसे होसक्ता है।

परमाणु मात्र भी परवस्तुको व सांसारिक इन्द्र अहमिंद्र चक्रवर्ती आदिके शारीरिक सुखको उपादेय या ठीक माननेवाला बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी है। जो सर्व पुद्गलोंसे भिन्न व कर्मजनित आत्मीक रागादि शुभ या अशुभ विकारोंसे भिन्न अपने शुद्धात्माको पहचानता है, उसका स्वाद लेनेकी शक्ति रखता है वही सम्यग्दृष्टी है।

समयसारमें कहा है—

परमाणुमित्तियं वि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पा णयं तु सव्वागमधरोवि ॥ २११ ॥

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चेय सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥ २१२ ॥

भावार्थ—निज आत्माके शुद्ध स्वभावको छोड़कर परवस्तुमें परमाणु मात्र भी राग भाव जिसके भीतर है वह यदि सर्व शास्त्रोंको जानता है, श्रुतकेवलीके समान हो तौभी वह शुद्ध आत्माको नहीं पहचानता है। जो अपने आत्माको नहीं जानता है वह ठीक ठीक अनात्माको भी नहीं जानता है। जब जीव व अजीव द्रव्यको ही नहीं पहचानता है तब वह सम्यग्दृष्टी कैसे होसक्ता है? जो कोई

ज्ञानानंदी सिद्धके समान अपने आत्माका अनुभव कर सक्ता है वही ज्ञानी सम्यग्दृष्टी है ।

योगेन्द्राचार्य योगसारमें कहते हैं-

देहादिउ जे पर कहिय ते अप्पाण मुणेइ ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुण संसार भमेइ ॥ १० ॥

भावार्थ-शरीरादि जो पर कहे गए हैं उनको जो अपना आत्मा मानता है सो बहिरात्मा है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है । वह पुनः पुनः संसारमें ही भ्रमण करेगा ।

क्षणिक शरीरकी सफलता।

रोयं सडणं पडणं देहस्स य पिच्छिऊण जरमरणं ।
जो अप्पाणं झायदि सो मुच्चइ पंचदेहेहिं ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ-(देहस्स) इस औदारिक शरीरके भीतर (रोयं) रोग होना (सडनं) इसका गलना (पडनं) इसका आलसी हो व निर्बल हो पड रहना (जरमरणं) इसका वृद्ध होना व इसका मरण होना (पिच्छिऊण) देखकरके (जो) जो ज्ञानी शरीर मोह त्यागी (अप्पाणं) अपने आत्माको (झायदि) ध्याता है (सो) वह (पंचदेहेहिं) पांचों प्रकारके शरीरोंके ग्रहणसे (मुच्चई) छूट जाता है ।

भावार्थ-यह शरीर जो हम कर्मभूमिके मानवोंके पास है वह स्वभावसे ऐसा है कि इसको भोगोंमें लगानेकी अपेक्षा योगाभ्यासमें लगाना अधिक बुद्धिमानी है । यह शरीर कोटि रोगोंका घर है, निरन्तर गलता सडता रहता है, दुर्गंधसे भरा है, अन्नपान न मिल-

नेपर प्रमादी होकर पड़ जाता है। इसमें जरापना आजाता है व यह अकालमें ही छूट जाता है, इस शरीरके छूटनेका समय नियत नहीं। इस क्षणभंगुर अपवित्र शरीरसे महान काम लिया जासक्ता है, इसी देहसे मोक्षका लाभ होसक्ता है।

वैक्रियिक शरीरधारी देव व अहमिंद्र भी जिस कामको नहीं कर सक्ते वह काम इस नर देहसे होसक्ता है। अतएव बुद्धिमान प्राणीको उचित है कि इस शरीरके मोहमें व इन्द्रियोंके भोगोंके मोहमें न उलझे और इस शरीरकी रक्षा योग्य भोजन पान देकर करते हुए इसके आधारसे आत्माका ध्यान निश्चिन्त हो करे, हमें निर्विकल्प स्वतत्वको एकाग्र हो ध्याना चाहिये।

ध्यानका अभ्यासी साधु वर्तमान पंचमकालमें सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक पहुंच सक्ता है। परन्तु चौथे कालमें इसी शरीरके द्वारा क्षपकश्रेणी चढ़कर शुक्लध्यानके प्रतापसे चारों घातीय कर्मोंका नाश करके अरहन्त होसक्ता है। फिर शेष अघातीय कर्मोंका भी क्षय करके सर्व प्रकार कर्मोंसे मुक्त होकर बिलकुल शुद्ध होकर मुक्त हो जाता है। अब वह कभी भी तैजस, कार्मण, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक पांचों ही प्रकारके शरीरोंको कभी धारण नहीं करेगा, वह सदा अपने निज स्वभावमें मगन रहेगा। शरीरादि बाहरी पदार्थोंका स्नेह त्यागना योग्य है।

श्री अमितगति आचार्य बृहद सामायिकपाठमें कहते हैं—

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयः स्नेहः स्थिरो वर्तते।
तावन्नश्यति दुःखदानकुशलः कर्मप्रपंचः कथम्॥

आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटाः शुष्यंति किं पादपाः।
भृज्जत्तापनिपातरोधनपराः शाखोपशाखान्विताः ॥९६॥

भावार्थ–जब तक मनमें शरीरादि बाहरी पदार्थोंके भीतर स्नेह जम रहा है तबतक दुःख देनेमें कुशल ऐसा कर्मोंका प्रपंच नाश नहीं होसक्ता है। जैसे भूमितलके भीतर तरी होनेपर जटाधारी बड़े २ वर्गतके वृक्ष जिनकी अनेक शाखा उपशाखाएं हैं व जो सूर्यके आतापको रोक रहे हैं कभी भी सूख कर गिर नहीं सक्ते हैं। परका राग बंधकारक है, मोक्षमें बाधक है।

उदयागत कर्मको समभावसे भोगना योग्य है।

जं होइ भुंजियव्वं कम्मं उदयस्स आणियं तवसा।
सयमागयं च तं जइ सो लाहो णत्थि संदेहो ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ–(जं कम्म) जिस कर्मको (तवसा) तपके द्वारा (उदयस्स आणियं) शीघ्र उदयमें लाकर (भुंजियव्वं होइ) भोगा जाना चाहिये (जइ) यदि (तं च सयम् आगयं) वही कर्म स्वयं उदयमें आकर जारहा है (सो लाहो) सो ही बड़ा लाभ है (संदेहो णत्थि) इसमें कोई संदेह नहीं है।

भावार्थ–ज्ञानी कर्मोंके उदयमें समभाव रखते हैं। वे विचारते हैं कर्मोंका छूटना जिस तरह भी हो उसी तरह अच्छा है। हमें तो कर्मोंसे मुक्ति पानी है। जब कर्म स्वयं अपनी स्थिति पूरी होनेपर उदयमें आकर झड रहा है तब यह तो मेरे लिये बड़ा लाभ है। मैं तो तपके द्वारा उनकी स्थिति घटाकर शीघ्र उदयमें लाकर दूर

करना चाहता ही था। जब वे स्वयं उदयमें आगए तब मुझे कोई प्रकारका रागद्वेष या विषाद न करना चाहिये। पुण्यकर्मके उदयमें उन्मत्तभाव या परिग्रहका अहंकारभाव व पापकर्मके उदयपर रोग वियोग आदि आपत्ति आजाय तो शोक भाव नहीं करना चाहिये। कर्मोंका छूटना ही हितकारी है। यदि ये उदयमें अब न आते तो मुझे तप करके इनको शीघ्र उदयमें लाना पड़ता।

तपके द्वारा अविपाक निर्जरा होती है, कर्मोंकी स्थिति घट जाती है तब वे शीघ्र उदयावलीमें आजाते हैं, पापकर्मोंका अनुभव घटता है, पुण्यकर्मोंका अनुभव बढ़ता है। आयुकर्मको छोड़कर शेष कर्म स्थितिके घट जानेसे शीघ्र उदयमें आते हैं। कम अनुभागवाला पाप बहुत अल्प बिगाड़ करता है, अधिक अनुभागवाला पुण्य अधिक साताका निमित्त मिलता है। यदि बाहरी निमित्त अनुकूल नहीं होता है तो कर्म विना फल दिये ही झड़ जाता है। ज्ञानी इस कर्मकी निर्जरा होते हुए हर्ष विषाद नहीं करता है। दुःख व सुखके निमित्त होनेपर समभाव रखता है। सविपाक व अविपाक दोनों ही प्रकारकी निर्जराका होना ज्ञानीको महान लाभ है, कर्मका कर्जा चुकाया जाता है। ज्ञानी तो कर्मोंका सर्वथा क्षय ही चाहता है, इसीलिये आत्मध्यानकी अग्नि जलाया करता है।

बृहत् सामायिकपाठमें कहा है—

विच्छेद्यं यदुदीर्य कर्म रभसा संसारविस्तारकम्।
साधूनामुदयागतं स्वयमिदं विच्छेदने कः श्रमः॥
यो गत्वा विजिगीषुणा बलवता वैरी हठाद्धन्यते।
नाहत्वा गृहमागतः स्वयमसौ संत्यज्यते कोविदैः॥ ९१॥

भावार्थ-जिस संसारवर्द्धक कर्मोंको तपके द्वारा शीघ्र उदयमें लाकर नाश करना था वह यदि स्वयं उदयमें आगया तो उसके नाशमें कोई परिश्रम ही नहीं है। यदि समभावसे भोग लिया जाय तो नवीन बंध न हो व वह कर्म झड़ जावे। जैसे किसी विजयके इच्छुक बलवानको शत्रुके पास जाकर उसका नाश करना था। कदाचित् वह स्वयं अपने घरमें आगया तो उसको विना मारे कौन बुद्धिमान छोड़ता है? अतएव समभाव रखना ही कर्मका नाश है।

समभावसे कर्मका भोगना संवरनिर्जराका कारण है।

भुंजंतो कम्मफलं कुणइ ण रायं च तह य दोसं वा।
सो संचियं विणासइ अहिणवकम्मं ण बंधेइ॥ ५१॥

अन्वयार्थ-(कम्मफलं भुंजंतो) कर्मोंका फल भोगते हुए (रायं च तह य दोसं वा कुणइ) जो ज्ञानी राग तथा द्वेष नहीं करता है (सो) वह ज्ञानी (संचियं विणासइ) पूर्वबद्ध कर्मोंका क्षय करता है (अहिणवकम्मं ण बंधेइ) नवीन कर्मोंको नहीं बांधता है।

भावार्थ-इस जीवके साथ आठ कर्मोंका संचय है। ये कर्म अपनी स्थिति पूरी होनेपर उदय होते हुए झड़ते हैं तब निमित्त अनुकूल होनेपर फल प्रगट करते हैं। जिनका निमित्त नहीं होता है वह विना फल प्रगट किये झड़ जाता है। कर्मबंध होनेके पीछे कुछ समय पकनेमें लगता है तबतक उदय नहीं आता है उस कालको आबाधा काल कहते हैं। एक कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति

होती है तो सौ वर्षका आबाधा काल होता है। इसी हिसाबसे कम या अधिक आबाधा काल समझना चाहिये।

१ सागरकी स्थितिका आबाधा काल अंतर्मुहूर्तसे अधिक न होगा। आबाधा कालको निकालकर कर्मकी जितनी स्थिति बचती है उस स्थितिके सर्व समयोंमें उस कर्मकी सर्व वर्गणाएं बंट जाती हैं। पहले अधिक संख्या व कम अनुभागकी फिर कम संख्या व अधिक अनुभागकी बंटवारेमें आती हैं। बंटवारेके अनुसार उनकी निर्जरा अवश्य होती है। तब यदि निमित्त अनुकूल होता है तो फल प्रगट होता है। जिसका निमित्त अनुकूल नहीं होता है वह योंही गिर जाती है। जैसे क्रोधादि चारों कषायोंका बंध एक साथ होता है तब उनकी वर्गणाओंका बटवारा भी एक साथ होकर चारों ही कषायोंकी वर्गणाएं एक साथ झड़ेंगी परन्तु उदय एक समय एक कषायका होगा। तीन कषायकी वर्गणाऐं विना फल प्रगट किये झड़ जायगी। जैसे कोई दो घड़ी सामायिकमें शांत भावमें बैठा है तब वहां शुभोपयोग है, मंद राग है, अतएव लोभ कषायका मंद उदय है, तब क्रोध मान मायाकी वर्गणाऐं विना फल प्रगट किये झड़ जायगी।

इसी तरह किसी जीवने सातावेदनीय कर्म बांधा, दो मिनट पीछे भाव बिगड़नेसे असातावेदनीय कर्म बांधा। तब उनके बटवारेमें दो मिनटका ही अंतर रहेगा, फिर साता व असाता दोनोंकी वर्गणाएं एक साथ झड़ने लगेंगी परन्तु उदय एक कालमें एकका ही होता है, एक विना फल दिये झड़ेगी। जैसे कोई सावधानीसे भोजन कर रहा है उस समय सातावेदनीयका उदय है, असाताका उदय

नहीं है या कोई मार्गमें गिर पड़ा वेदनासे एक घंटा तड़फड़ा रहा है तब असाताका उदय है, साताका नहीं है।

ज्ञानी यह विचारता है कि आठों ही कर्म मेरे आत्माके स्वभावसे पर हैं। ये जिस तरह भी झड़ें झड़ने देना चाहिये। उनके फलमें मुझे राग द्वेष नहीं करना चाहिये। जो ज्ञानी सम-भावसे कर्मोंका फल सुख या दुःख सब भोग लेता है, उसके निर्जरा होती जाती है, नवीन बंध नहीं होता है।

निर्ग्रंथ योगी परम वीतरागी होते हैं, समभावके धारी होते हैं। निंदा प्रशंसामें, सन्मान निरादरमें, सरसनीरस भोजनपानमें, मित्र शत्रुमें समभाव रखते हैं। इसलिये कर्मके योगसे संवर निर्जराके ही अधिकारी हैं। गृहस्थ सम्यक्ती भी इसी भावको रखता है। कर्मोंके फलमें न तो उन्मत्त होता है, न शोक करता है। बुद्धिपूर्वक रागद्वेष नहीं करता है, परन्तु गृहस्थके अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्या-ख्यानावरण कषायोंका उदय तीव्र होता है, तब रागद्वेष होजाता है, राग सहित राज्य करता है, पांचों इन्द्रियोंके भोग करता है व शत्रुके साथ युद्ध करता है व दुष्टको दंड देता है तब भी यह समझता है कि यह मेरे आत्माका स्वभाव नहीं है।

कर्मोंके उदयवश मुझे इन सब कामोंको करना पड़ता है। इसलिये अनासक्त सहित रागद्वेष होता है। उसीके अनुकूल नवीन बंध भी करता है, परन्तु वह बंध अल्प स्थितिवाला होता है। ज्ञानी कर्मोंकी संगति नहीं चाहता है। सदा ही मुक्त रहना चाहता है। इसलिये वह बंध शीघ्र झड़ जायगा, उसको संसारमें फंसाने-

वाला नहीं होगा । अतएव मोक्षके वांछक ज्ञानीका यह धर्म है कि वह समताभाव रखनेका अभ्यास करे । सुखदुःखके कारणोंके मिलनेपर कर्मका उदय है, ऐसा जानकर संतोष रक्खे । जैसे किसी कमरेमें कभी धूप आती है फिर वहीं छाया होजाती है । ज्ञानी किसी धूप या छायाके रहनेमें रागद्वेष नहीं करता है । ऐसा ही ऋतुका स्वभाव है, जान कर समभावी रहता है । समयसारकलशमें कहा है—

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्मरागरसरिक्ततयैति ।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥ १६ ॥
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्सर्वरागरसवर्ज्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१७-७॥

भावार्थ—ज्ञानीके भीतर कर्मोंसे राग नहीं है । इसलिये कर्म परिग्रहभावको नहीं उत्पन्न करते । जैसे कषायलापनसे रहित वस्त्रमें रङ्गका संयोग होनेपर भी रङ्ग बाहर ही बाहर रहता है, शीघ्र उड़ जायगा । ज्ञानी अपने स्वभावसे ही सर्व रागके रससे रहित वीतरागी होता है । इसलिये कर्मोंके उदयके मध्यमें रहने पर भी कर्मोंसे लिपता नहीं है, बंधको प्राप्त नहीं होता है ।

गुणस्थानोंके हिसाबके अनुसार बंध दसवें गुणस्थान तक चलता है तथापि वह बाधक नहीं है । भीतरसे वैराग होनेपर कर्मोदयजन्य रागके कारण होता है । सम्यग्दृष्टी अपनेको जीवन्मुक्त समझता है । पूर्वबद्ध व आगामी बन्ध सर्वही कर्मोंसे उदासीन है । वह अपनेको निज भावका कर्ता व भोक्ता मानता है । कर्मोदयकी बलवान प्रेरणावश वह मन, वचन, कायकी क्रिया करता दिखलाई पड़ता है ।

अतएव अल्प बन्ध अबन्धके समान कहलाता है। जहां निर्जरा अधिक हो, बंध अल्प हो, वह मोक्षके ही सन्मुख है।

मोह बंधकारक है।

भुंजंतो कम्मफलं भावं मोहेण कुणइ सुहअसुहं।
जइ तं पुणोवि बंधइ णाणावरणादि अट्ठविहं ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ-(जइ) यदि (कम्मफलं भुंजंतो) कर्मोंके फलको भोगते हुए (सुहअसुहं भावं मोहेण कुणइ) शुभ अशुभ राग द्वेषरूप भाव मोहके वशीभूत हो करने लगे तो वह जीव (पुणोवि) फिर भी (णाणावरणादि अट्ठविहं तं बंधइ) ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्मोंको बांधता है।

भावार्थ-मोही व मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव कर्मोंके फलको सुख या दुखको भोगते हुए सुखके होते हुए राग, दुःखके होते हुए द्वेष भाव करता है। जिससे फिर भी आयु कर्मके बंधके समय आठों ही प्रकारके कर्मोंको शेष समय सात प्रकार कर्मोंको बांधता है। बंधका कारण राग द्वेष मोह भाव है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी समभावोंसे कर्मोंके फलको भोग लेता है, इससे बंधको प्राप्त नहीं होता है। वीतराग सम्यग्दृष्टी पूर्ण समभावी होते हैं। सराग सम्यग्दृष्टीके संज्वलनके या प्रत्याख्यानके या अप्रत्याख्यान कषायोंके तीव्र उदयमें सुख दुःखके पड़नेपर यथासंभव राग द्वेष होता है। तदनुकूल कुछ बन्ध भी होता है परन्तु भव भ्रमणकारी बन्ध मिथ्यादृष्टीको ही होता है। तथापि साधकको जो मुक्ति चाहता है, समभाव रखनेका

अभ्यास करना चाहिये । कर्मविपाकका स्वरूप विचारकर विपाक-विचय धर्मध्यानको करना चाहिये । कर्मोंके उदयको जो आ ही गया, कर्ज चुकनेके समान व मल धोनेके समान मानकर हर्षगर्भित उदासीनता रखनी चाहिये । मेरे ही बांधे कर्मका उदय है सो छूट रहा है, आत्मा कर्म रहित होरहा है, ऐसी भावना रागद्वेषको मिटा देगी । वस्तुके स्वरूपके विचारनेसे बहुत संतोष होता है ।

समयसारकलशमें कहा है—

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ १९-८ ॥

भावार्थ—अज्ञानी जीव अपने आत्माके स्वभावको व पुद्गलके स्वभावको ठीक ठीक नहीं जानता है । इसलिये रागद्वेषादिमई आप होजाता है । अतएव कर्मोंका बंध करता है ।

रागका अंश भी त्यागनेयोग्य है ।

परमाणुमित्तरायं जाम ण छंडेइ जोइ समणम्मि ।
सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठवियाणयो सवणो ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थ—(जाम) जबतक (जोइ) योगी (समणम्मि) अपने मनमें (परमाणुमित्तरायं) परमाणु मात्र भी राग रखकर (ण छंडेइ) उस रागका त्याग न करै वहांतक (सो परमट्ठवियाणयो सवणो) वह परमार्थका ज्ञाता श्रमण भी (कम्मेण ण मुच्चइ) कर्मोंसे नहीं छूट सक्ता है ।

भावार्थ—कर्मोंसे छूटनेका साधन वीतराग विज्ञान है । संसारकी कोई भी कर्मजनित अवस्था ग्रहण करने योग्य नहीं है, केवल

एक अनिर्वचनीय अनुभवगम्य निज पद ही ग्रहण करने योग्य है। ऐसा दृढ़ श्रद्धान रखनेवाला ज्ञानी किसीसे राग नहीं करता है, निश्चिन्त होकर निज आत्माको ध्याता है। वह शीघ्र कर्मोंकी निर्जरा करता जाता है। यदि कोई परमार्थतत्व शुद्धात्माको निश्चयनयसे जान भी ले परन्तु मिथ्यात्वभावको या संसारके रागभावको न छोडे तो वह मोक्षमार्गी नहीं है, संसारमें ही भ्रमण करेगा। सम्यक्ती पूर्ण विरागी होते हैं, अपनेको जीवन्मुक्त समझते हैं।

कर्मोदयसे जहां तक सराग अवस्था है, रागद्वेष होता भी है, परन्तु उसको कर्मजनित रोग समझकर उसके दूर करनेका ही निश्चय है। वीतरागी आत्मध्यानी साधु तो सामायिक चारित्रके धारी होते हैं। समभावसे कर्मोदयजन्य रागादि विकारको जीत लेते हैं। समभावके ही प्रतापसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। **सारसमुच्चयमें** कहा है—

समता सर्वभूतेषु यः करोति सुमानसः।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ॥ २१३ ॥

भावार्थ—जो महान आत्मा सर्व प्राणी मात्रपर समभाव रखता है, वह ममत्व भावसे रहित होता हुआ अविनाशी पदको प्राप्त करता है।

ध्यानकी स्थिरता ही मोक्षहेतु है।

सुहदुक्खं पि सहंतो णाणी झाणम्मि होइ दिढचित्तो।
हेउं कम्मस्स तओ णिज्जरणट्ठाइमो सवणो ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ—(णाणी) सम्यग्ज्ञानी जीव (सुहदुःखं पि सहंतो) सुख तथा दुःखको समभावसे सहते हुए (झाणम्मि) ध्यानमें

(दिढचित्तो होइ) दृढ़ मन सहित वर्तता है (सवणो) ऐसा श्रमण (कम्मस्स हेउणओ) नवीन कर्मोंके आस्रवका कारण नहीं होता है (णिज्जरणट्ठाइमो) पुराने कर्मोंकी निर्जरा करता रहता है।

भावार्थ—शुभ तथा अशुभ कर्मोंके उदय होते हुए जो सुख तथा दुःख होता है उसको ज्ञानी वैराग्य भावसे, अनासक्तिसे, अपने ही कर्मोंका यह फल है, इस संतोषभावसे भोग लेता है। तब राग द्वेष मोहके न होनेसे ज्ञानीके मनमें अपने शुद्धात्माकी ओर दृढ़तासे लगन लग जाती है तब मन पर पदार्थोंकी तरफ रागद्वेष मोह नहीं करता है। चित्त एकाग्र होकर आत्मामें लय होता है। ध्यानका प्रकाश होजाता है।

जहां आत्माका ध्यान जम जाता है वहां पूर्व कर्मोंकी निर्जरा होती जाती है, नवीन कर्मोंका आस्रव नहीं होता है। यदि गुणस्थानोंकी परिपाटीके अनुसार कुछ होता है वह शीघ्र निर्जराके सन्मुख होता है। सम्यग्ज्ञानी साधु वीतरागताके मार्गपर आरूढ़ है। इससे संवर व निर्जराका कारण होता है। ध्यानकी सिद्धि करनेवालेको उचित है कि वह कर्मोंके उदयमें ज्ञाताद्रष्टा बना रहे, विपाकविचय धर्मध्यान करे। अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओंका चिन्तवन करता रहे। निश्चयनयके द्वारा जगतको समभावसे देखे। रागद्वेष मोहकी उत्पत्तिका कारण व्यवहार नयका दृश्य है। जब सर्व जीव समान दिख गए तब समभावका ही प्रकाश होगा।

आत्मानुशासनमें गुणभद्राचार्य कहते हैं—

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः॥ १७७॥

भावार्थ–आत्मज्ञानी मुनि वारवार आत्मज्ञानकी भावना करता हुआ तथा जगतके पदार्थोंको जैसे हैं वैसे जानता हुआ उन सबसे रागद्वेष छोडके आत्माका ध्यान करता है ।

स्वस्वरूपमें रत संवर निर्जरावान है ।

ण मुएइ सगं भावं ण परं परिणमइ मुणइ अप्पाणं ।
जो जीवो संवरणं णिज्जरणं सो फुडं भणिओ ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ–(जो जीवो) जो ज्ञानी आत्मा (सगं भावं ण मुएइ) अपने स्वभावको नहीं छोडता है (परं ण परिणमइ) परभावोंमें नहीं परिणमता है (अप्पाणं मुणइ) अपने आपको ध्याता है (सो) वह ध्याता आत्मा (फुडं) प्रगट रूपसे (संवरणं णिज्जरणं भणिओ) संवर तथा निर्जरा रूप कहा गया है ।

भावार्थ–वीतराग भाव ही नवीन कर्मोंको रोकता है और पुरातन कर्मोंकी विशेष निर्जरा करता है । जब कोई ज्ञानी सर्व पर द्रव्योंसे व परभावोंसे व कर्मोंके उदयसे होनेवाली अपनी अंतरंग व बहिरंग सब अवस्थाओंसे वैराग्य भाव धारण कर उनमें रागद्वेष मोह नहीं करता है, केवल निज आत्मीक भावको दृढ़तासे ग्रहण किये रहता है, आपसे आपको ग्रहण कर आपको नहीं छोड़ता है और अपने शुद्ध स्वरूपको ध्याता है, वह ध्यानी मुनि ही संवर व निर्जरा रूप कहा गया है। तपसे संवर और निर्जरा दोनों तत्व प्राप्त होते हैं। इच्छाओंके निरोधको ही तप कहते हैं। शुद्धात्माके स्वरूपमें

तपनेको तप कहते हैं । स्वस्वरूपमें रमणको तप कहते हैं । बारह तपोंमें ध्यान ही उत्तम तप है ।

मोक्षपाहुड़में श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सग्गई होई ।
इय णाऊण सदव्वे कुणइ रई विरय इयरम्मि ॥१६॥

भावार्थ—परद्रव्यमें रति करनेसे दुर्गति होती है । अपने शुद्ध आत्मा द्रव्यमें मगन होनेसे सुगति अर्थात् मुक्ति होती है, ऐसा जानकर योगीको परपदार्थोंसे विरक्त रहकर सदा अपने ही द्रव्यमें लीनता—एकाग्रता करनी योग्य है । आपसे आपको ध्याना योग्य है ।

आत्मा स्वयं रत्नत्रयमई है।

ससहावं वेदंतो णिच्चलचित्तो विमुक्कपरभावो ।
सो जीवो णायव्वो दंसणणाणं चरित्तं च ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—(णिच्चलचित्तो) जो चित्तको स्थिर करके (विमुक्कपरभावो) व सर्व परभावोंको त्याग करके (ससहावं वेदंतो) अपने ही आत्मीक स्वभावका अनुभव करता है (सो जीवो) वही भव्यजीव (दंसणणाणं चरित्तं च) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई (णायव्वो) जानना योग्य है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन शुद्धात्माकी प्रतीतिको कहते हैं । सम्यग्ज्ञान शुद्धात्माके ज्ञानको कहते हैं । सम्यक्चारित्र शुद्धात्मामें स्थिर भावको कहते हैं । तीनों ही आत्माके गुण हैं, पृथक् नहीं हैं । गुण गुणीसे भिन्न नहीं रहते । जैसे अग्निसे उष्णता भिन्न नहीं वैसे

तीनों ही रत्नत्रय आत्मा द्रव्यसे भिन्न नहीं। अभेद दृष्टिसे एक आत्मा ही है।

जैसे महावीर भगवानका श्रद्धान ज्ञान व चारित्र श्री महावीर भगवानसे भिन्न नहीं है, महावीर भगवान ही है। अथवा जैसे दाहक, पाचक, व प्रकाशकपना ये तीन स्वभाव अग्निसे भिन्न नहीं हैं, अग्निमई ही हैं वैसे वे रत्नत्रय आत्मासे भिन्न नहीं है आत्मा ही है। अतएव जो सम्यग्दृष्टी जीव चित्तको सर्व चिंतासे मुक्त करके व सर्व राग द्वेष मोह भावोंसे रहित होकर केवल एक अपने ही शुद्धात्माकी तरफ उपयोगको जोड़ देता है, आपसे ही आपमें मगन होजाता है, निश्चल होजाता है अर्थात् स्वानुभव प्राप्त कर लेता है, वह स्वयं रत्नत्रय स्वरूप होजाता है।

रत्नत्रयको ही मोक्षमार्ग कहा गया है। जिस भावसे नवीन कर्मोंका संवर हो व प्राचीन कर्मकी अविपाक निर्जरा हो वही भाव मोक्षमार्ग है। जब शुद्ध स्वभावमें मगनता होती है तब वीतरागता बढ़ ही जाती है। वीतरागता ही संवर व निर्जराकी साधक है। इस वीतरागताके लाभके लिये साधकको उचित है कि निश्चयनयके द्वारा विश्वको देखनेका अभ्यास करे। जब आप व सर्व आत्माएं एक-समान शुद्ध बुद्ध आनन्दमय दीखनेमें आगईं तब रागद्वेष मोहका कोई कारण नहीं रहा। स्वानुभवके होनेके पहले निश्चयनयके द्वारा अपने स्वरूपकी भावना करनी योग्य है। भावना भाते हुए यकायक स्वानुभव प्राप्त होजाता है।

श्री अमितगति आचार्य बृहद् सामायिकमें कहते हैं—

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो ।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलः शश्वदात्मानपायः ॥
दक्षः संकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षैः ।
नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीयः ॥१२०॥

भावार्थ—जो चतुर भव्य जीव इन्द्रिय विजयी है, जन्म मरणसे भयभीत है, संसार-भ्रमणसे उदासीन है, उसको बाधा-रहित अतीन्द्रिय स्थिर निर्मल सुखकी प्राप्तिके लिये ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि मेरा आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सर्वमल रहित है, अविनाशी है, जन्म मरण जरा रोग शोकसे रहित है। अपने स्वभावमें सदा कल्लोल करनेवाला है।

आत्मा ही शुद्ध ज्ञान चेतनामय है।

जो अप्पा तं णाणं जं णाणं तं च दंसणं चरणं ।
सा सुद्धचेयणावि य णिच्छयणयमस्सिए जीवे ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थ—(णिच्छयणयमस्सिए जीवे) जो जीव निश्चयनयका आश्रय लेता है उसके ज्ञानमें (जो अप्पा तं णाणं) जो आत्मा है वही ज्ञान है (जं णाणं तं च दंसणं चरणं) जो ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यक्चारित्र है (सा सुद्धचेयणावि य) वही शुद्ध ज्ञानचेतना है।

भावार्थ—निश्चयनयका विषय अभेद एक शुद्ध आत्मा है। व्यवहारनयसे ही गुण गुणीके भेद दीखते हैं। जब कोई ध्यान करनेवाला निश्चल ध्यानका लाभ चाहता है तब वह व्यवहार दृष्टिको

गौण करके निश्चय दृष्टिसे अपनेही आत्माको देखता है। तब वह आत्मा एकरूप ही दीखता है। उसीको चाहे सम्यग्दर्शन कहो चाहे ज्ञान कहो चाहे चारित्र कहो चाहे एक शुद्ध ज्ञानचेतना कहो चाहे स्वानुभव कहो, एक ही बात है। जैसे अनेक औषधियोंकी बनी हुई गोलीका एक मिश्रित अभेद स्वाद आता है वैसे अपने सर्व शुद्ध गुणोंके धारी आत्माका एक अभेद स्वाद आता है। जब निश्चय-नयके द्वारा आत्माको देखकर फिर उसीमें एकाग्र होकर रमण किया जाता है। स्वानुभव होते हुए निश्चयनयका भी विचार नहीं रहता है। वही स्वानुभव वास्तवमें मोक्षमार्ग है।

समयसार कलशमें कहा है—

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः।
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्॥
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं।
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनां॥ ३०—१०॥

भावार्थ—जो महात्मा रागद्वेषादि विभावसे मुक्त होकर नित्य अपने शुद्ध स्वभावका मनन करते हैं, पूर्वबद्ध कर्म व आगामी कर्म व वर्तमान कर्मोंके उदयसे अपने आत्माको रहित देखते हैं वे ही तत्वज्ञानी अपने दृढ़ वीतराग चारित्रके महात्म्यके बलसे चैतन्य ज्योतिमई आत्मीक शांत रससे पूर्ण ज्ञान चेतनाका अनुभव करते हैं।

आत्मानुभवसे परमानन्द लाभ होता है।

उभयविणट्ठे भावे णियउवलद्धे सुसुद्धससरूवे ।
विलसइ परमाणंदो जोईणं जोयसत्तीए ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ–(उभय भावे विणट्ठे) दोनों ही रागद्वेष भावोंके नाश होनेपर (णिय सुसुद्ध ससरूवे उवलद्धे) अपने ही शुद्ध वीतराग आत्मीक स्वभावकी प्राप्ति होनेपर (जोईणं) योगीके भीतर (जोयसत्तीए) योगकी शक्तिसे (परमाणंदो विलसइ) परमानन्दका स्वाद आता है ।

भावार्थ–जब निश्चयनयके द्वारा जगतको देखा जाता है तब यह जगत शुद्ध छः द्रव्यमई विभाव पर्याय रहित दीखता है । सर्व ही जीव एकसमान शुद्ध दीखते हैं, समभाव जग जाता है, रागद्वेषभावका विकार बिलकुल मिट जाता है । इस तरह देखनेवाला योगी फिर केवल अपने आत्माहीके स्वभावके स्वाद लेनेपर झुक जाता है, आपसे ही आपको देखने लगता है तब योग या ध्यान या स्वानुभव प्रगट होजाता है । उस समय ध्यानी महात्माको जो अपूर्व आनंद आता है, वही अतीन्द्रिय परमानन्द है, सिद्धसुखके समान है । आत्मा स्वयं आनन्दमई है । जब उसीमें रमण होगा तब आनंदका स्वाद अवश्य ही आएगा। जैसे मिष्ठ फलके स्वादमें उपयोग जोड़ने पर फलकी जैसी मिष्ठता है वैसा ही स्वाद आता है, वैसे ही वीतराग विज्ञानमई निज आत्माके भीतर उपयोग जोड़नेपर आत्मीक आनंदका स्वाद आता है । **समयसार कलशमें कहा है—**

अत्यन्तं भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च ।
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां ।
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥४०-१०॥

भावार्थ-कर्मोंसे व कर्मोंके फलसे मैं निरन्तर विरक्त हूं ऐसी भावना करके व संपूर्ण अज्ञानचेतनाका प्रलय करके तथा अपने ही पूर्ण आत्मरस गर्भित ज्ञानचेतनाको आनन्द सहित अपने भीतर नचा करके शांत रसका पान निरन्तर करो।

प्रवचनसारमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

सोक्खं सहावसिद्धं, णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसयेसु रम्मेसु ॥ ७९ ॥

भावार्थ-सुख तो आत्माका स्वभाव है सो देवोंको भी प्राप्त नहीं होता। वे तो वेदनासे पीड़ित होकर रमणीक विषयोंमें रमण करते हैं।

जिस ध्यानसे परमानंद न हो वह ध्यान ही नहीं।

किं कीरइ जोएण जस्स य ण हु अत्थि एरिसा सत्ती।
फुरइ ण परमाणंदो सच्चेयणसंभवो सुहदो ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थ-(जोएण किं कीरइ) ऐसे योगाभ्याससे क्या लाभ (जस्स य एरिसा सत्ती ण हु अत्थि) जिस योगमें ऐसी शक्ति नहीं है कि जिससे (सच्चेयणसंभवो सुहदो परमाणंदो) आत्मानुभवसे प्राप्त सुखदाई परमानंद (ण फुरइ) नहीं प्रगट हो।

भावार्थ-कोई पवनके निरोधको ही ध्यान मानले तो वह ध्यान नहीं है । योगाभ्यास या ध्यान तो वही सच्चा है जिससे आत्मा सहजहीमें अपने स्वभावमें लीन होजावे जिससे स्वानुभव प्रगट होजावे । स्वानुभवके होनेपर ही परमानन्द अवश्य होता है । जिस ध्यानसे सहज आनन्दका स्वाद न आवे वह यथार्थ ध्यान ही नहीं है । जब सर्व और विचार बंद होजायँगे और उपयोग केवल एक शुद्धात्मामें ही रमण करेगा तब अवश्य आत्मीक सुखका वेदन होगा । परम शांत सुख रसका स्वाद जहांपर आवे वहीं यथार्थ आत्मध्यान है ऐसा समझना चाहिये ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड़में कहते हैं—

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि ।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥ १०१ ॥

भावार्थ-जो साधु वैराग्यवान होकर परद्रव्योंसे परांमुख होजाता है वही संसारीक सुखसे विरक्त होकर अपने ही आत्माके शुद्ध सहज सुखमें लीन होता है । वैरागी ज्ञानीको आत्मध्यानसे आत्मीक सुख आता ही है ।

मनकी स्थिरता विना सहजसुख नहीं होसक्ता ।

जा किंचिवि चलइ मणो झाणे जोइस्स गहिय जोयस्स ।
ताव ण परमाणंदो उप्पज्जइ परमसोक्खयरो ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ-(गहिय जोयस्स जोइस्स मणो) योगाभ्यासी योगीका मन (जा) जब तक (किंचिवि चलइ) कुछ भी चंच-

कता रखता है (ताव) तबतक (परमसोक्खयरो परमाणंदो) परम सुखकारी परमानन्द (ण उव्वज्जइ) नहीं उत्पन्न होता है ।

भावार्थ—जबतक मनका काम बंद न होगा, संकल्प विकल्प न छूटेंगे, तबतक स्थिर ध्यान नहीं होसक्ता है। जबतक ध्यान स्थिर न होगा तबतक आत्मीक आनन्दका स्वाद नहीं आयगा। लौकिकमें भी जबतक मिष्टान्नको भोगते हुए चित्त स्थिर न होगा तबतक उसका स्वाद क्या है यह ठीक ठीक नहीं ज्ञात होगा। जब उपयोग स्थिर होगा तब ही ठीक स्वाद आयगा। इसी तरह शुद्धात्मामें निश्चल तरङ्ग रहित समुद्रकी तरह जब उपयोग मगन होगा डूब जायगा तब स्वयं परमानंद प्रगट हो जायगा। ध्यानका चिह्न ही यह है जबतक आत्मीक सुखका स्वाद न आवे तबतक ध्यानकी सिद्धि न समझनी चाहिये। जब यथार्थ समभावकी प्राप्ति साधुको होगी वहां अवश्य सुख होगा।

ज्ञानार्णवमें श्री शुभचन्द्राचार्य कहते हैं—

तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम् ।
तस्यैव बंधविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ॥ १८-१४ ॥

भावार्थ—जिस योगीके भीतर समता है उसीको अवश्य निश्चल आत्मीक सुख होता है। उसीको ही अविनाशी मोक्षपद प्राप्त होगा। उसीके ही कर्मोंके बंध कटेंगे।

वास्तवमें सच्चा ध्यान आनन्दप्रद है, वही कर्मबंध नाशक है।

निर्विकल्प ध्यान मोक्षका कारण है।

सयलवियप्पे थक्के उप्पज्जइ कोवि सासओ भावो।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सो हु ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ-(सयलवियप्पे थक्के) सर्व विकल्पोंके बंद होजाने पर (कोवि सासओ भावो उप्पज्जइ) कोई एक अविनाशी भाव झलक जाता है (जो अप्पणो सहावो) जो आत्माका स्वभाव है (सो हु मोक्खस्स कारणं) वही भाव मोक्षका साधक है।

भावार्थ-ध्याता योगीको निश्चयनयके द्वारा जगतको देखकर समभाव प्राप्त करना चाहिये, फिर अपने ही आत्माके ऊपर लक्ष्य देकर उसका मूल स्वभाव विचारना चाहिये कि मैं परम शुद्ध ज्ञानानन्दमय एक ध्रुव द्रव्य हूं। विचारते हुए जब मनके सर्व विचार बंद होजाते हैं, मन एकाग्र होकर आत्माके भीतर लय हो जाता है जैसे लवणकी डली पानीमें घुल जाती है तब आत्मा आपसे आपको देखता है। यकायक ऐसी स्थिति आजाती है कि ध्याता ध्येयका, ज्ञाता ज्ञेयका, दृष्टा दृश्यका विकल्प मिट जाता है, निर्विकल्प अपना ही सारतत्व रह जाता है, अविनाशी आत्माका एक शुद्ध भाव स्वानुभव रूप प्रकाश होजाता है। यही भाव वास्तवमें निश्चय रत्नत्रयकी एकता रूप मोक्षका मार्ग है। स्वानुभवके प्रतापसे ही नवीन कर्मोंका संवर और पुरातन कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है।

शुद्धोपयोग ही कर्मके क्षयका कारण है। क्षपक श्रेणीमें आरूढ़ साधुके भावोंमें शुक्लध्यान प्रकाश पा जाता है। इसीसे मोहका क्षय

होता है । व इसीसे शेष तीन घातीय कर्मोंका क्षय होता है और यह आत्मा अर्हंत परमात्मा होजाता है ।

तत्त्वानुशासनमें कहा है—

अन्यात्माभावो नैरात्म्यं स्वात्मसत्तात्मकश्च सः ।
स्वात्मदर्शनमेवातः सम्यग्नैरात्म्यदर्शनं ॥ १७६ ॥
आत्मानमन्यसंपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति ।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयं ॥ १७७ ॥

भावार्थ—आत्मामें आत्मभावका न झलकना ही नैरात्म्य है, यही भाव अपने ही आत्माकी सत्तामें स्थित है। यही स्वात्मदर्शन है। इसीको सम्यक् प्रकार नैरात्म्यदर्शन कहते हैं। जो कोई आत्माको परसे मिला हुआ देखता है वह द्वैतको देखता है। परन्तु जो परभावोंसे भिन्न आत्माको देखता है वह अद्वैत एक आत्माको ही देखता है। अद्वैत स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है।

अद्वैत भावमें अन्य विषयोंका भान नहीं होता है।

अप्पसहावे थक्को जोई ण मुणेइ आगए विसए ।
जाणिय णियअप्पाणं पिच्छयतं चेव सु विसुद्धं ॥६२॥

अन्वयार्थ–(जोई) योगी (अप्प सहावे थक्को) अपने आत्माके स्वभावमें स्थिर होता हुआ (सुविसुद्धं) अत्यन्त शुद्ध (णिय अप्पाणं) अपने आत्माको (जाणिय) जानकर (पिच्छयतं) उसीका अनुभव करते हुए (आगए विसए ण मुणइ) इन्द्रियोंके व मनके भीतर आनेवाले विषयोंको नहीं जानता है ।

भावार्थ—जब योगी शुद्धात्माके स्वरूपमें एकाग्र होजाता हैं। निर्मल, निश्चल शुद्धात्माका ध्यान प्रगट होजाता है तब उपयोग उपयोगवान आत्मामें ऐसा घुल जाता है मानों दोनों एक ही होगये, जैसे लवण पानीमें घुल जाता है। उस समय उपयोग पांच इन्द्रिय तथा मनकी ओर नहीं जाता है। तब उनके द्वारा इन्द्रिय व मनके विषयोंको भी नहीं जानता है। शरीर पर कोई कष्ट पड़े, कानमें कोई शब्द आवे, नाकमें गंध आवे तो भी ध्यानीको कुछ भान नहीं होता है। उपयोग जब कभी एक कामर्में रम जाता है तब दूसरी तरफ नहीं जाता है।

जैसे कोई किसी पुस्तकके पढ़नेमें एकाग्र हो उस समय कोई उसे पुकारता है परन्तु उसका उपयोग कर्ण इन्द्रियकी तरफ न जानेसे वह नहीं सुनता है। जब उपयोग हटता है तब सुन लेता है। निश्चल ध्यानका यही स्वभाव है, जो पूर्ण तन्मयता प्राप्त हो जावे। जैसे भ्रमर कमलकी गंधमें लुभा जाता है, वह कमल बन्द होगा, उसका मरण होगा, इसे वह नहीं विचारता है, केवल गंधमें आसक्त है। यही दशा अद्वैत अनुभव करनेवालेकी होती है। ऐसे ध्याता योगीको परीषह व उपसर्ग पड़नेपर जबतक वह ध्यानमें एकाग्र रहता है तबतक उसको पता नहीं चलता है।

इष्टोपदेशमें पूज्यपाद स्वामीने कहा है—

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिं।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥ ४३ ॥

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते ।

अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्धयते न विमुच्यते ॥ ४४ ॥

भावार्थ—जो जहां बैठ जाता है वहां ही रति कर लेता है। जब कोई कहीं रम जाता है तब उस विषयसे दूसरी ओर नहीं जाता है। इसी तरह आत्मामें रमण करनेवाला—इन्द्रिय व मनके विषयोंकी तरफ न जाता हुआ उनको नहीं जानता है। उन विषयोंकी तरफ उपयोग न जानेसे रागद्वेष नहीं होता है, तब कर्मोंसे बंधता नहीं है, किंतु कर्मोंकी निर्जरा करता है।

ध्यान शस्त्रसे मन मर जाता है।

ण रमइ विसएसु मणो जोइस्स दु लद्धसुद्धतच्चस्स ।

एक्कीहवइ णिरासो मरइ पुणो झाणसत्थेण ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ—(लद्धसुद्धतच्चस्स जोइस्स) इस योगीने शुद्ध आत्मीक तत्वका लाभ कर लिया है, उस योगीका (मणो) मन (दु) तो (विसएसु ण रमइ) पांच इन्द्रिय व मनके विषयोंमें रमता ही नहीं है (णिरासो) सर्व आशा तृष्णासे रहित होकर (एक्की हवइ) आत्माके साथ एकमेक होजाता है (पुणो) अथवा (झाणसत्थेण मरइ) आत्मध्यानके शस्त्रसे मर ही जाता है।

भावार्थ—जब सम्यग्दृष्टी ध्यानी साधु आत्मज्ञान व वैराग्यसे पूर्ण होकर शुद्ध निर्विकल्प आत्मतत्वमें लीन होजाता है, स्वानुभवका लाभ कर लेता है, उस समय पांच इन्द्रियां व मन छहों ही द्वारोंसे

विषयोंका ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि उपयोग आत्मस्थ होगया है। विना उपयोगके द्रव्य इन्द्रियां व द्रव्य मन काम नहीं कर सक्ते हैं। आत्मानन्दका लाभ लेनेवाले साधुके भीतर सर्व सांसारिक विषयभोगके सुखोंकी आशा बिला जाती है, तब मन किन्हीं भी विषयोंकी प्राप्तिकी व रक्षाकी चिन्ता नहीं करता है। उस समय मन संबंधी उपयोग उपयोगवान आत्मासे एकताको पालेता है। वास्तवमें आत्मध्यानके शस्त्रसे संकल्प विकल्प रूपी मनका मरण ही होजाता है। जबतक मन नहीं मरता तबतक निश्चल आत्मध्यान नहीं होता है। आत्माका साक्षात्कार आपसे ही आपमें होता है। वह मनके विचारसे बाहर है। आत्मा अखण्ड व अभेद एक परम सूक्ष्म पदार्थ है। मन केवल मात्र कुछ गुणोंको लेकर मनन कर सक्ता है। परन्तु उसका सर्वस्व भोग आपसे ही आपमें होता है।

तत्वानुशासनमें कहा है—

न हीन्द्रियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्वतः।
वितर्कास्तन्न पश्यंति ते ह्यविस्पष्टतर्कणाः॥ १६६॥

भावार्थ—आत्मा रूपादि रहित अमुर्तीक है। इन्द्रियोंसे वह जाना नहीं जासक्ता। क्योंकि पांचों ही इन्द्रियां मूर्तिक पदार्थ स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दको ही ग्रहण कर सक्ती हैं। मनके वितर्कोंसे भी वह आत्मा दूर है। क्योंकि सब वितर्क अस्पष्ट होते हैं, स्पष्ट व पूर्ण नहीं होते हैं। आत्मा विशद व पूर्ण है। इससे आत्माके ही द्वारा आत्माका ग्रहण होता है।

मोहके क्षयसे अन्य घातीयकर्म क्षय होते हैं ।

ण मरइ तावेत्थ मणो जाम ण मोहो खयंगओ सव्वो ।
खीयंति खीणमोहे सेसाणि य घाइकम्माणि ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ-(जाम) जबतक (सव्वो मोहो) सर्व मोहनीय कर्म (ण खयंगओ) नहीं क्षय होता है (तावेत्थ मणो ण मरइ) तबतक यह मन नहीं मरता है (खीणमोहे) क्षीणमोह साधुके (सेसाणि य घाइकम्माणि) शेष तीन घातीयकर्म भी (खीयंति) क्षय होजाते हैं ।

भावार्थ-मनका काम संकल्प विकल्प करना है व श्रुतज्ञान मनका विषय है । दूसरा शुक्लध्यान जब होता है तब श्रुतज्ञानमें ऐसी एकता होजाती है कि वितर्कका परिवर्तन नहीं होता है । इस समय मन बिलकुल मरा हुआ रहता है । पहले शुक्ल ध्यानसे ही मोहनीय कर्मका क्षय होजाता है तब साधु बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानमें आता है । अंतर्मुहूर्तके लिये एकत्व वितर्क अवीचार ध्यानमें मगन रहता है । योग व उपयोग निश्चल होजाता है । मन वचन कायकी पलटन नहीं होती है । इस ध्यानके बलसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय तीन घातीय कर्म भी क्षय होजाते हैं । वास्तवमें मनकी चंचलता होनेमें मोह कर्मका उदय कारण है । जैसे समुद्रमें कल्लोलें पवनके प्रचारसे आती हैं । पवनका संचार न होनेसे समुद्र निश्चल होजाता है । वैसे ही रागद्वेष मोहका कारण मोहनीय कर्मका उदय है । जब इस मोहनीयकर्मका सर्वथा क्षय होजाता है तब आत्मा

परम वीतराग होजाता है, आत्मस्थ होजाता है, मनके काम करनेका आलम्बन नहीं रहता है। मोहके उदयमें ही कर्मोंका बन्ध होता है व सांपरायिक आश्रव होता है। जब मोहका क्षय होजाता है तब कर्मोंमें स्थिति व अनुभाग डालनेवाला कषाय विकार नहीं रहता है। मोह रहित वीतरागीके जबतक योगोंका हलन चलन रहता है तब-तक ईर्यापथ आस्रव होता है। सातावेदनीयकी प्रकृतिधारी वर्गणाएं आती हैं व दूसरे समय झड़ जाती हैं। संसारका कारण मोह है। इसलिये योगीको क्रमर कमके मोहके क्षयका उपाय करना चाहिये। मोहके नाशका उपाय रत्नत्रय धर्म है। भेद विज्ञानपूर्वक आत्माको परसे भिन्न करके एक अपने ही शुद्धात्माका अनुभव है, ज्ञानचेतना रूप भाव है।

समयसार कलशमें कहा है—

> ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां।
> भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः॥
> ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः।
> मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति॥ २०-११॥

भावार्थ—जो कोई सम्यग्दृष्टी किसी भी प्रकारसे मोहको दूर करके ज्ञान मात्र आत्मीक भावकी निश्चल भूमिमें बैठ जाते हैं वे ही मुक्तिके साधक तत्वको पाकर सिद्ध होजाते हैं। जो मिथ्यादृष्टी हैं और आत्माके शुद्ध स्वरूपके ज्ञानसे रहित हैं वे इस साधनको न पाकर भववनमें भ्रमण करते रहते हैं।

मोह सर्व कर्मोंका राजा है।

णिहए राए सेण्णं णासइ सयमेव गलियमाहप्पं।
तह णिहयमोहराए गलंति णिस्सेसघाईणि ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ—जैसे (राए णिहए) राजाके घात किये जानेपर (गलियमाहप्पं) प्रभाव रहित होकर (सेण्णं सेना (सयमेव) स्वयं ही (णासइ) भाग जाती है (तह) वैसे (मोहराए णिहए) मोह राजाके क्षय होनेपर (णिस्सेसघाईणि) शेष सर्व घातीय कर्म (गलंति) क्षय होजाते हैं।

भावार्थ—आठ कर्मोंको आत्माके साथ जकड़कर रखनेवाला मोह है। कर्मोंमें स्थिति अनुभाग कषायोंसे ही पड़ता है। कषायकी चिकनाईसे ही कर्म ठहरते हैं। जब कषायोंका क्षय कर दिया जाता है फिर शीघ्र ही तीन घातीय कर्म क्षय होजाते हैं और अघातीय कर्म जली हुई रस्सीके समान रह जाते हैं। जैसे—सेनापतिके परास्त होनेपर सेना भाग जाती है।

अतएव भव्य जीवका यह कर्तव्य है कि मोहके क्षयका पुरुषार्थ करे, मोह मेरा कोई साथी सगा नहीं है। ऐसा वैराग्य भाव रखनेसे और अपने शुद्ध आत्मीक भावका अनुभव करनेसे मोहका बल घटता चला जाता है। स्वानुभव ही मोहके नाशका उपाय है।

समयसारकलशमें कहा है—

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

भावार्थ--मैं केवल मात्र एक अपने आत्माको ही स्वयं अपनेसे अपने आत्मीक रससे पूर्ण अनुभव करता हूं। मुझे पूर्ण निश्चय है कि मोहसे मेरा कोई भी संबंध नहीं है, वह जड़ पुद्गल है। मैं शुद्ध चैतन्यमई जलसे पूर्ण महान सागर हूं। मुझे इसी ज्ञान-समुद्रमें ही स्नान करना चाहिये व इसीका जलपान करना चाहिये।

घाति क्षयसे केवलज्ञान प्रकाश होजाता है।

घाइचउक्के णट्ठे उप्पज्जइ विमलकेवलं णाणं।
लोयालोयपयासं कालत्तयजाणगं परमं ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ-(घाइचउक्के णट्ठे) चार घातीय कर्मोंके क्षय हो जाने पर (लोयालोयपयासं) लोक अलोकको प्रकाश करनेवाला (कालत्तय जाणगं) तीन कालकी पर्यायोंको जाननेवाला (परमं) उत्कृष्ट (विमलकेवलं णाणं) शुद्ध केवलज्ञान (उप्पज्जइ) प्रगट होजाता है।

भावार्थ—आत्माका स्वभाव सूर्यके समान स्वपर प्रकाशक है, पूर्णज्ञानमय है। सर्व त्रिकालके व लोकालोकके द्रव्य गुणपर्यायोंको एक ही कालमें जान लेनेका है। यह स्वभाव ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय कर्मोंने ढक रक्खा था। जितना कर्मोंका क्षयोपशम था उतना ज्ञान प्रगट था। जब चारों घातीय क्षय होगए तब पूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रगट होगया, सर्वज्ञ वीतराग मई अरहन्त पद झलक गया, आत्मा अंतरात्मासे परमात्मा होगया, जीवनमुक्त होगया। आप्तस्वरूपमें कहा है—

ध्यानानलप्रतापेन दग्धे मोहेन्धने सति ।
शेषदोषास्ततो ध्वस्ता योगी निष्कल्मषायते ॥ ६ ॥
मोहकर्मरिपौ नष्टे सर्वे दोषाश्च विद्रुताः ।
छिन्नमूलतरोर्यद्वद् ध्वस्तं सैन्यमराजवत् ॥ ७ ॥
स स्वयम्भूः स्वयं भूतं सज्ज्ञानं यस्य केवलं ।
विश्वस्य ग्राहकं नित्यं युगपद्दर्शनं तदा ॥ २१ ॥

भावार्थ–ध्यानरूपी अग्निके प्रतापसे मोहरूपी ईंधनके जल जाने पर शेष सर्व दोष नाश होजाते हैं तब योगी मलरहित निर्मल होजाता है। मोह कर्मरूपी शत्रुके क्षय होजानेपर सर्व दोष भाग जाते हैं। जैसे वृक्षकी जड कट जाने पर वृक्ष नहीं रहता है व राजाके नाश होनेपर सेना भाग जाती है तब वह अरहंत स्वयंभू पदको पा लेते हैं। जिनको स्वयं केवलज्ञान प्रगट होजाता है, जो ज्ञान सर्व विश्वका नित्य क्रमरहित युगपत् जाननेवाला है, साथ ही केवलदर्शन भी होजाता है।

आपसे आप ही प्रकाश होता है। आत्माके ध्यानसे ही परमात्मा होता है।

अघातीय कर्मोंके क्षयसे सिद्धपद होता है।

तिहुअणपुज्जो होउं खविओ सेसाणि कम्मजालाणि ।
जायइ अभूतपुव्वो लोयग्गणिवासिओ सिद्धो ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ–(तिहुअणपुज्जो होउं) अरहंतावस्थामें तीन जगतके प्राणियोंसे पूजित होकर (सेसाणि कम्मजालाणि) शेष अघातीय कर्मजालोंको (खविओ) क्षय करके (अभूतपुव्वो) अभूतपूर्व

(लोयग्गणिवासिओ) लोकाग्र निवासी (सिद्धो) सिद्ध भगवान (जायइ) होजाता है।

भावार्थ–अरहंत परमात्मा आयु पर्यंत विहार करके गंधकुटीमें या समवसरणमें स्थित भव्योंको धर्मोपदेश करते हैं। इन्द्रादि व चक्रवर्ती आदि राजा सब उनकी पूजाभक्ति करते हैं। जब चौदहवें अयोग गुणस्थानमें जाते हैं तब अंतमें नाम गोत्र वेदनीय व आयु चारों अघातीय कर्मोंका क्षय करके परम शुद्ध आत्मा होजाते हैं। उनहीको सिद्ध कहते हैं। क्योंकि जो साधनेयोग्य था उस पदको उन्होंने सिद्ध कर लिया। जैसे कर्दम रहित जल होजाता है व मल रहित उज्वल वस्त्र होजाता है. वैसे आत्मा सर्व मल रहित निर्मल, निरंजन, सिद्ध परमात्मा होजाता है। अबतक अनादि संसारमें भ्रमण करते हुए जिस पदको कभी नहीं पाया था उसे पालिया। इसीसे इसको अभूतपूर्व कहते हैं। आत्माका स्वभाव अग्निकी शिखाके समान ऊर्द्धगमन है। अतएव जहांपर शरीर छूटता है उसी जगह सीधे ऊपरको सिद्धात्मा चला जाता है और लोकके अग्र भागमें ठहर जाता है। जहांतक धर्म द्रव्य है वहांतक गमन होता है। सिद्धक्षेत्रमें ही सिद्ध निवास करते हैं।

आप्तस्वरूपम कहा है—

लोकाग्रशिखरावासी सर्वलोकप्रकाशकः।
सर्वदेवाधिको देवो ह्यष्टमूर्तिर्दयाध्वजः॥ ४९॥
अच्छेद्योऽनभेद्यश्च सूक्ष्मो नित्यो निरंजनः।
अजरो ह्यमरश्चैव शुद्धसिद्धो निरामयः॥ ५२॥

अक्षयो ह्यव्ययः शान्तः शान्तिकल्याणकारकः।
स्वयंभूर्विश्वदृश्वा च कुशलः पुरुषोत्तमः॥ १४॥

भावार्थ—सिद्ध परमात्मा लोकाग्र शिखरपर वास करते हैं, सर्वलोकके प्राणियोंके लिये शरणभूत हैं। सर्व देवोंके स्वामी महादेव हैं। अष्टगुण धारी आप्तमूर्ति हैं, दयाकी ध्वजा हैं, छेद रहित हैं, भेद रहित हैं, अतीन्द्रिय सूक्ष्म हैं, अविनाशी हैं, कर्मांजन रहित हैं, निरंजन हैं, अजर हैं, अमर हैं, शुद्ध हैं, सिद्ध हैं, बाधारहित हैं, अक्षय हैं, अव्यय हैं, शांत हैं, शांति व कल्याणके कर्ता हैं, स्वयंभू हैं, विश्वदर्शी हैं, मंगलमय हैं व परमात्मा हैं।

सिद्ध भगवान निश्चल विराजते हैं।

गमणागमणविहीणो फंदणचलणेहि विरहिओ सिद्धो।
अव्वाबाहसुहत्थो परमट्ठगुणेहिं संजुत्तो॥ ६८॥

अन्वयार्थ—(सिद्धो) सिद्ध परमात्मा (गमणागमणविहीणो) गमन आगमन नहीं करते (फंदणचलणेहिं विरहिओ) हलन चलनसे रहित हैं, (अव्वाबाह सुहत्थो) बाधा रहित सुखमें लीन हैं (परमट्ठ गुणेहिं संजुत्तो) मुख्य आठ गुण सहित हैं।

भावार्थ—सिद्धोंके आठों कर्म क्षय होगए इसलिये मुख्य आठ गुण प्रगट होगए—१ सम्यग्दर्शन, २ अनंतज्ञान, ३ अनंत दर्शन, ४ अनंतवीर्य, ५ सूक्ष्मत्व, ६ अवगाहनत्व, ७ अगुरुलघुत्व, ८ अव्याबाधत्व। वे सदा निश्चल स्वभावमें मगन आत्मानन्दको निरंतर भोगते रहते हैं। कोई प्रकारकी बाधा उनको नहीं है। कर्मोंके उदय

न होनेसे वे पूर्णरूपे स्थिर हैं। तत्वानुशासनमें कहा है:-

पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्मितौ ।
मुक्तौ तु तस्य तौ नस्तः क्षयात्तद्धेतुकर्मणां ॥ २३२ ॥

ततः सोऽनंतरत्यक्तस्वशरीरप्रमाणतः ।
किंचिदूनस्तदाकारस्तत्रास्ते स्वगुणात्मकः ॥ २३३ ॥

भावार्थ-संसार अवस्थामें जीवके प्रदेशोंका संकोच तथा विस्तार कर्मोंके उदयसे होता है। मुक्तिपदमें संकोच विस्तारके कारण कर्मोंका क्षय होजानेसे संकोच या विस्तार नहीं होता है तब वह आत्मा अंतिम शरीरके प्रमाणसे कुछ कम इसी पूर्व शरीरमें जैसा आकार था वैसा आकार लिये हुए अपने शुद्ध गुणोंमें सदा मगन रहता है।

सिद्ध सर्वज्ञ हैं।

लोयालोयं सव्वं जाणइ पिच्छेइ करणकमरहियं ।
मुत्तामुत्ते दव्वे अणंतपज्जायगुणकलिए ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ-(अणंतपज्जायगुणकलिए) अनंत गुण व पर्यायोंके धारी (मुत्तामुत्ते दव्वे) मूर्तीक तथा अमूर्तीक द्रव्योंको (सव्वं लोयालोयं) सर्व ही लोकको व अलोकको (करणकमरहियं) विना किसी सहायताके व विना क्रमके एक साथ (पिच्छेइ जाणइ) देखते व जानते हैं।

भावार्थ-सिद्ध भगवानको सूर्यकी उपमा दे सक्ते हैं। जैसे सूर्य एक साथ स्व परको प्रकाश करता है वैसे यह शुद्ध आत्मा

एकसाथ सर्व लोकके सर्व पदार्थोंको उनके गुणोंको व उनकी अनंत पर्यायोंको तथा अलोकाकाशको अर्थात् सर्व ही जानने योग्यको अपने केवल दर्शन व केवलज्ञान गुणोंमे देखते–जानते हैं। शुद्ध ज्ञान-दर्शनकी महिमा वचन रहित है। तत्त्वानुशासनमें कहा है—

> स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनं ।
> भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनं ॥ २३५ ॥
> त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं ।
> जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥ २३८ ॥

भावार्थ–सर्व जीवोंका स्वभाव सूर्य मंडलके समान अपनेको व परको प्रकाश करता है, परकी सहायतासे नहीं। सिद्ध भगवान् अपनी सिद्धावस्थामें तीन काल सम्बन्धी सर्व ही जाननेयोग्य पदार्थोंको तथा अपने आत्माको जैसाका तैसा संपूर्णपने देखते जानते रहते हैं। तथापि निरपेक्ष व वीतराग ही रहते हैं। किसीसे कोई स्नेहभाव या द्वेषभाव नहीं करते हैं। यही परमात्मा या ईश्वरका सच्चा स्वरूप है।

सिद्ध लोकाग्रमें क्यों ठहरते हैं।

धम्माभावे परदो गमणं णत्थित्ति तस्स सिद्धस्स।
अत्थइ अणंतकालं लोयग्गणिवासिउं होउं ॥ ७० ॥

अन्वयार्थ–सिद्ध भगवान् (लोयग्गणिवसिउं होउं) लोकाग्र-वासी होकर (अणंतकालं) अनंतकाल (अत्थइ) तिष्ठते रहते हैं। (धम्माभावे) धर्म द्रव्यके न होनेपर (तस्स सिद्धाणं) उन सिद्धोंका

(गमणं) गमन (परदो) लोकाग्रसे आगे (णत्थिच्चि) नहीं होता है।

भावार्थ—यह नियम है कि जीव पुद्गलका गमन सहकारी धर्म-द्रव्य लोकव्यापी अमूर्तीक अखंड है। अलोकाकाशमें वह धर्म द्रव्य नहीं है। इसलिये सिद्धोंका गमन लोकाकाशसे बाहर नहीं होसक्ता। वस्तुका नियम सर्वके लिये एकसा ही होता है अतएव सर्व सिद्ध भगवान स्वभावसे ऊर्द्ध जाकर लोकके मस्तकपर ठहर जाते हैं तथा अधर्म द्रव्य वहीं तक है. उसकी सहायतासे वहां अनंतकाल तक विराजमान रहते हैं। तत्वार्थसारमें अमृतचंद्र आचार्य कहते हैं—

ततोऽप्यूर्द्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः।
धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परं ॥ ४४ ॥

भावार्थ—लोकाग्रसे आगे सिद्धोंका गमन क्यों नहीं होता है इसका कारण यही है कि गमनका उदासीन निमित्त कारण धर्मास्तिकाय द्रव्य आगे नहीं है।

मुक्त जीव ऊपरहीको जाता है।

संते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छइ तह य तिरियं वा।
उड्ढं गमणसहाओ मुक्को जीवो हवे जम्हा ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थ-(जम्हा) क्योंकि (मुक्को जीवो) मुक्त जीव (उड्ढं गमण सहाओ) ऊर्द्ध गमन स्वभाव धारी होता है इसलिये (धम्मदव्वे संते वि) धर्मके द्रव्यके होते हुए भी (अहो तह य तिरियं ण गच्छइ) मुक्त जीव न तो नीचे जाता है न आठ दिशाओंमें जाता है।

भावार्थ-जीवका स्वभाव ऊर्द्धगामी है इसलिये सिद्ध जीव ठीक ऊपरको ही जाते हैं।

अंतिम मंगलाचरण।

असरीरा जीवघणा चरमसरीरा हवंति किंचूणा।
जम्मणमरणविमुक्का णमामि सव्वे पुणो सिद्धा ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ-(पुणो) फिर मैं देवसेनाचार्य (सव्वे सिद्धा) सर्व सिद्धोंको (णमामि) नमस्कार करता हूं जो (असरीरा) पांचों शरीरोंसे रहित अमूर्तीक हैं (जीवघणा) गुणोंसे पूर्ण जीव स्वरूप घनाकार हैं (चरमसरीरा किंचिदूणा हवंति) जो अंतिम शरीरसे कुछ कम आकार धारी हैं। (जम्मणमरण विमुक्का) जन्म मरणसे रहित हैं।

भावार्थ-सर्व ही सिद्ध शुद्धात्मा निरंजन व नित्य हैं, घनाकार आत्माके प्रदेश पूर्व शरीरप्रमाण पद्मासन या खड्गासन धारी आठ आसनरूप रखते हैं। जहांर नख केशादिमें आत्माके प्रदेश नहीं हैं उतना आकार कम होजाता है।

स्वपर तत्व जयवन्त हो।

जं तल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरं विसमं।
तं सव्वजीवसरणं णंदउ सगरपरगयं तच्चं ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ-(जं तल्लीणा जीवा) जिस स्वपर तत्वमें लीन होकर भव्य जीव (विसमं संसारसागरं तरंति) इस भयानक संसार-

रूपी समुद्रको तर जाते हैं (तं सव्वजीवसरणं) वह सर्व जीवोंकी रक्षा करनेवाला (सगपरगयं तच्चं) स्वतत्व व परतत्व (णंदउ) आनन्दित रहो—जयवन्त रहो।

भावार्थ—इस तत्वसार ग्रन्थकी तीसरी गाथामें यही झलकाया है कि स्वतत्व अपना ही शुद्धात्मा है व परतत्व अर्हंत सिद्ध आदि पंचपरमेष्ठी हैं। जब परिणाम निश्चल रहे तो अपने तत्वका ध्यान करे। जब स्वरूपमें थिरता न रह सके तब पांच परमेष्ठीको ध्यावे। इसी उपायसे सर्व ही महात्माओंने संसार समुद्रसे पार होकर मोक्षलाभ किया है। इसलिये सर्व जीवोंके रक्षक ये ही तत्व हैं। इनकी शरण सदा ग्रहण करनी चाहिये।

शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है वह शुद्धात्मानुभवरूप है। जब यह न हो सके तब पंचपरमेष्ठीकी भक्ति करे यह शुभोपयोगता है।

आशीर्वाद।

सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाहदेवसेणेण।
जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ—(मुणिणाहदेवसेणेण) मुनिराज श्री देवसेनाचार्य रचित (तच्चसारं) तत्वसार ग्रन्थको (सोऊण) सुनकर (जो सद्दिट्ठी) जो कोई सम्यग्दृष्टी (भावई) भावना करेगा (सो) वह (सासयं सोक्खं) अविनाशी सुखको (पावइ) पावेगा।

भावार्थ—इस तत्वसार ग्रन्थका मनन वारवार करना चाहिये व स्वतत्वकी भावना करनी चाहिये, जिससे यहां भी अतीन्द्रिय सुखका लाभ होगा। व परम्परा निर्वाणके अनंत अनुपम सुखका लाभ होगा।

दाहोद
ता० १९-९-३७ } ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद जैन।

प्रशस्ति–टीकाकार ।

मंगलश्री अरहंत हैं, मंगल सिद्ध महान ।
आचारज उवझाय मुनि, मंगलमय सुखदान ॥ १ ॥
युक्त प्रांत लखनौ नगर, अग्रवाल कुल जान ।
मंगलसेन महागुणी, जिनधर्मी मतिमान ॥ २ ॥
तिन सुत मक्खनलालजी, गृही धर्म लवलीन ।
तृतीय पुत्र 'सीतल' यही, जैनागम रुचि कीन ॥ ३ ॥
विक्रम उन्निस पैंतिसे, जन्म सु कार्तिक मास ।
बत्तिस वय अनुमानमें, घरसे भयो उदास ॥ ४ ॥
श्रावक धर्म सम्हालते, विहरे भारत ग्राम ।
उन्निससै तेरानवे, दाहोदे विश्राम ॥ ५ ॥
शत घर जैन दिगम्बरी, दशाहूमड जाति ।
त्रय मंदिर उत्तम लसैं, शिखरबंद बहु भांति ॥ ६ ॥
नसियां लसत सुहावनी, शाला बाला बाल ।
संतोषचंद जीतमल, लूणजी चुन्नीलाल ॥ ७ ॥
सूरजमल और राजमल, उच्छवलाल सुजान ।
पन्नालाल चतुर्भुज, आदि धर्मि जन जान ॥ ८ ॥
सुखसे वर्षाकालमें, ठहरा शाला धर्म ।
ग्रंथ कियो पूरण यहां, मंगलदायक पर्म ॥ ९ ॥
वीर चौवीस त्रेसठे, भादव चौदस शुक्ल ।
रविदिन संपूरण भयो, वंदूं श्री जिन शुक्ल ॥ १० ॥
विद्वानोंसे प्रार्थना, टीकामें हो भूल ।
क्षमाभाव धर शोधियो, देखो प्राकृत मूल ॥ ११ ॥